वैदिक वाङ्मय में लोकधर्मी परम्पराएँ

डॉ. विश्व बन्धु

भारत नीति प्रतिष्ठान
India Policy Foundation

वैदिक वाङ्मय में लोकधर्मी परम्पराएँ

(कालीचरण पुरी छात्रवृत्ति के
अधीन प्रस्तावित शोध-प्रबन्ध)

डॉ. विश्व बन्धु

इस प्रकाशन के किसी भी अंश का प्रतिलिपिकरण, ऐसे यंत्र में भंडारण जिससे इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता हो या स्थानान्तरण, किसी भी रूप में या किसी भी विधि से, इलेक्ट्रॉनिक , यांत्रिक, फोटो-प्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग या किसी और ढंग से, प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता।

प्रकाशक:

भारत नीति प्रतिष्ठान

डी-51, हौज खास, नई दिल्ली-110016 (भारत)

दूरभाष: 011-26524018

फैक्स: 011-46089365

ई-मेल: info@ipf.org.in, indiapolicy@gmail.com

वेबसाइट: www.ipf.org.in

© भारत नीति प्रतिष्ठान

ISBN : 978-93-84835-35-4

प्रथम संस्करण: अप्रैल 2021

अनुक्रमणिका

वाङ्मुखम् (7-27)

प्राचीन भारतीय साहित्य एवं लोक-संस्कृति, संस्कृत वाङ्मय में लोक-संस्कृत एवं संस्कृत का जन-भाषीय रूप, "लोक" शब्द का अर्थ , लोक शब्द की प्राचीनता , वाङ्मय सृष्टि: विश्व साहित्य से भारतीय वाङ्मय के वैशिष्ट्य का आलोचन

प्रथमाध्याय – वैदिक कविता की लोक-सांस्कृतिक काव्य-धारा (29-43)

ऋग्वैदिक कविता के लौकिक प्रतिमान,ऋग्वेद में साम्य विधान, ऋग्वेदीय उक्ति-प्रकार : अभिव्यक्ति का मानवीकरण, ऋग्वेदीय वाक्य-विन्यास

द्वितीयाध्याय- वैदिक मन्त्र तथा आधिभौतिक व्याख्या-पद्धति (45-61)

"ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः" का तात्पर्य,वैदिक मन्त्रों की आधिभौतिक व्याख्या

अध्याय तृतीय- ऋग्वेद : लौकिक साहित्य (63-81)

ऋग्वेद में ऐतिहासिक सामग्री, ऋग्वेद में आचार-सामग्री,ऋग्वेद में मनोरञ्जन की सामग्री,ऋग्वैदिक वेश-भूषा एवं प्रसाधन-सामग्री,ऋग्वेद में अभिचार कर्मों से सम्बन्धित सामग्री

उपसंहार (83-84)

परिशिष्ट- वैदिक वाङ्मय में लोकधर्मिता के सन्दर्भ (85-100)

पुस्तक-सूची (101-110)

वाङ्मुखम्

प्राचीन भारतीय साहित्य एवं लोक-संस्कृति

प्राचीन भारतीय साहित्य के अवलोकन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारत-भूमि में विचार-संस्कृति की दो पृथक्-पृथक् धारायें प्रवाहित हो रही है- निगम और आगम । "निगम" का मूलस्थान प्रधानतः उपनिषद् और तदवलम्बी दार्शनिक सूत्रग्रन्थ – विशेषतः ब्रह्मसूत्र है । "आगम" सिद्धान्त के मूल संवादात्मक ग्रन्थ शिवसूत्र,शक्तिसूत्र,परशुरामकल्पसूत्र प्रभृति हैं । "निगम" के मूल में व्यवस्थाश्रित विचार-शृङ्खला का भाव है, जबकि "आगम" के मूल में "स्वात्मानन्दानुभूति" का भाव है अतः "आगम" सिद्धान्त व्यवस्थाश्रित शास्त्रीय-परम्परा के अधीन पुष्पित-पल्लवित नहीं हुआ । "निगम" इस विचार-संस्कृति को "ब्राह्मण संस्कृति" के नाम से भी जाना जाता है और "आगम" सिद्धान्तों को "तन्त्र सिद्धान्त" के पर्याय से भी जाना जाता है । तत्कालीन मान्य शास्त्रीय व्यवस्था एवं सामाजिक व्यवस्था का अनुकरण करने के कारण ही "निगम" परम्परा को समाज के अभिजातवर्ग के साथ जोडकर देखा जाता है, जबकि "आगम"सिद्धान्तों के मूल में ऐसा कोई भाव नहीं था अतः समाज के सामान्य से भी अतिसामान्य व्यक्तियों की भी अनुभूतियों से यें सिद्धान्त सींचे गएँ । समाज के सामान्य एवं अतिसामान्य व्यक्तियों का भी प्रतिनिधित्व इस प्रकार की विचार-शृंखला में दिखलाई पडता है ।

"निगम" परम्परा के लिए प्रयुक्त होने वाले "ब्राह्मण संस्कृति" शब्द में "ब्राह्मण" किसी वर्ण या जाति का बोधक नहीं है और न ही ऐसे समाज, उनकी जीवन-शैली इत्यादि का परिचायक है यहाँ वर्ण-विशेष ("ब्राह्मण" वर्ण) केन्द्रीय भूमिका अदा करता है । ब्राह्मण संस्कृति ऐसे सांसारिकों की जीवन-चर्या की परिचायक है , जो कि "ब्रह्म" नाम से बोधित होने वाले "ज्ञान-मार्ग" को केन्द्रित कर संसार में प्रवृत्त होते हैं ।

अतः वेदोपदिष्ट ज्ञान-मार्ग के अनुसर्ता ही "ब्राह्मण संस्कृति" के अनुयायी कहलायें। इस विचार-संस्कृति के श्रेष्ठ व्याख्याता आदिशङ्कराचार्य जी को माना जाता है। आदिशङ्कर के मत में श्रीमद्भगवद्गीता का तात्पर्य इसी ज्ञान-मार्ग की प्रतिपादना करना है। यथाहि –

> ".....तस्य अस्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम् । तच्च सर्वकर्मसन्न्यासपूर्वकात् आत्मज्ञाननिष्ठारूपात् धर्मात् भवति ॥"[1]

अर्थात् गीताशास्त्र का परम् प्रयोजन कार्य-कारण से बँधे हुए संसार से निवृत्ति की योग्यता पैदा करना है। इसकी सिद्धि सर्वकर्मसन्न्यासपूर्वक आत्मज्ञान अर्थात् जगत्, आत्मा, परमात्मा, परमतत्त्वविषयक ज्ञान से ही सम्भव है।

"आगम संस्कृति" अवधूत, नाथ, सिद्धों की जीवन-चर्या का पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से अनुपालन करने वाले सांसारिकों की जीवन शैली को प्रस्तुत करती है। नाथ सत्यान्वेषण के लिए किसी शास्ता (गुरु या आचार्य) के अधीन किसी- न किसी संघ या गण में प्रवेश लेते हैं। दोनों ही संस्कृतियाँ परस्पर सङ्क्रान्त भी हुई है, एक-दूसरे से बहुधा प्रभावित भी हुई है।[2] परिणामशः भारत भूमि में इन दोनों संस्कृतियों से सङ्क्रान्त हुए अनेकों विचार दार्शनिक-सम्प्रदाय के रूप में भी विकसित हुए हैं।

---

[1] पृ. ४, शाङ्करभाष्योद्धातः, श्रीमद्भगवद्गीता, (संशोधनकर्ता) शम्भुजनुर्गजाननशर्मा, दिल्ली: परिमल पब्लिकेशन्स (पुनर्मुद्रण २०१४) ॥

[2] प्रसिद्ध संस्कृतज्ञा गौरी धर्मपाल ने इस तथ्य को मुक्त कण्ठ से प्रतिपादित किया है (Dharmapaul, Gouri, The Linguistic Atom and the origin of Language, Ritam, Kolkata: 2010, p.43) -

"The most marvellous thing to note is that a fair amount of the voluminous material of the inspired utterances of the Rishis agree, sometimes literally, with those of the mystics and poets of the modern world- Ramakrishna, Ramprasad, Robindronath, Aurobindo, Lalan,

यहाँ यह अवधेय है कि समाज के अभिजात एवं एकध्रुवीय शिक्षित वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली "निगम"परम्परा भी अपने सिद्धान्तों को वैदिक वाक्यों से प्रमाणित करती है तथा जन-सामान्य की अनुभूतियों को समाहित कर रूप लेने वाली साधना पद्धति, जिसे "आगम" सिद्धान्त कहा जाता है, भी अपना मूल उसी वेदाख्या शब्द-राशि में ढूँढती है । प्रस्तुत सन्दर्भ की पुष्टि के लिए प्रसिद्ध आगम ग्रन्थ भर्तृहरि के "वाक्यपदीयम्" की एक कारिका द्रष्टव्य है –

"एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा । भोक्तृभोक्तव्यभेदेन भोगरूपेण च स्थितिः ॥

प्रास्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः। एकोऽप्यनेकवर्त्मेव समाम्नातः पृथक् पृथक् ॥[3] (ब्रह्मकाण्डम्,४-५)

आगम एवं निगम सिद्धान्तों का मूल वैदिक शब्द-राशि ही है । अतः भारतीय जन की उपासना-पद्धति, रीति-रिवाजों एवं गृह-संस्कारों में इन दोनों विचार-शृङ्खलाओं का साङ्कर्य सहज सुलभ है । यहाँ तक कि जैसा ऊपर बताया गया है, इन दोनों संस्कृतियों से सङ्क्रान्त हुए अनेकों विचार दार्शनिक-सम्प्रदाय के रूप में भी विकसित हुए हैं ।

Jatindranath, Nazrul, Jivanananda, Dante, Browning, Blake and many others."

[3] To which, single one, the cause of all, belongs this manifold existence, under the forms of the enjoyer, the enjoyed, and the enjoyment.

Of that (Brahman) the Veda is both the means of realisation and the reflection and it has been handed down by the great seers as it consisted of many paths, although it (really) is one.

(The Vakyapadiya, Canto 1(4-5), (Tr.) K raghavan Pillai, New Delhi: MLBD, 1971).

आधुनिक युग में भी अनेकों सांसारिक ऐसे हैं जो उपासना पद्धति, रीति-रिवाजों एवं गृह-संस्कारों इत्यादि में सिद्ध,नाथ,अवधूत,सन्त-महात्माओं के निर्दिष्ट मार्ग का ही अनुवर्तन करते हैं । अतः आगम का सम्बन्ध मात्र जन-साधारण के साथ जोडना एवं ब्राह्मण संस्कृति का सम्बन्ध अभिजात वर्ग के साथ मात्र जोडना भारत-भूमि में युगपत् प्रवाहित होने वाली पुष्पित-पल्लवित हुई दोनों प्रकार की संस्कृति-धाराओं के साथ अन्याय करने के समान है ।

अस्तु, अभिजात अथवा शिष्ट समाज से तात्पर्य बौद्धिक विकास की पराकाष्ठा पर आसीन उच्च वर्ग की संस्कृति का अनुवर्तन करने वाले जन-वर्ग से है । ऐसा जन-वर्ग आवश्यक नहीं है कि भौतिक दृष्ट्या अत्यन्त सम्पन्न हो । इस वर्ग में समाज का मध्यम वर्ग **भी प्रतिनिधित्व रखता है ।** यह वर्ग बौद्धिक दृष्ट्या अपनी प्रतिभा के कारण समाज का अग्रणी तथा पथ-प्रदर्शक कहलाता है । समाज में अभिजात अथवा शिष्ट वर्ग के अतिरिक्त **निम्न मध्यम वर्ग तथा** अतिसामान्य वर्ग की उपस्थिति अत्यन्त महनीय है । यह वर्ग उच्च वर्ग की संस्कृति का अनुवर्तन न करते हुए अपनी प्रेरणा लोक से प्राप्त करता है , जिसकी उत्स-भूमि जनता है । जन-साधारण बौद्धिक विकास के निम्न धरातल पर ही सर्वथा अवस्थित रहता है ।

अनेकों विचारकों ने समाज के अभिजात वर्ग तथा निम्न-मध्यम एवं अतिसामान्य वर्ग का संस्कृतिगत भेद स्वीकार किया है । लोक-संस्कृति के प्रसिद्ध विचारक कृष्णदेव उपाध्याय का मत यहाँ द्रष्टव्य है -

"प्राचीन भारतीय साहित्य के अवलोकन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारत वर्ष में संस्कृति की दो पृथक्-पृथक् धारायें प्रवाहित हो रही थी, जो निम्ननिखित थी : - (१.) शिष्ट संस्कृति और (२.) लोक संस्कृति । शिष्ट संस्कृति से तात्पर्य उस अभिजात वर्ग की संस्कृति से है जो बौद्धिक विकास के पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थी । यह वर्ग अपनी प्रतिभा के कारण समाज का अग्रणी तथा पथ-प्रदर्शक था तथा जिसकी संस्कृति का स्रोत वेद और शास्त्र था । परन्तु लोक संस्कृति से हमारा अभिप्राय जन-साधारण की उस संस्कृति से है जो अपनी प्रेरणा लोक से प्राप्त करती थी । जिसकी उत्स-भूमि जनता थी । इस संस्कृति

के अनुयायी बौद्धिक विकास के निम्न धरातल पर अवस्थित थे। यदि ऋग्वेद और अथर्ववेद का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो यह पार्थक्य स्पष्ट ही प्रतीत हो जाता है। संस्कृत के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् पद्मभूषण आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय ने इस विषय का गम्भीर विवेचन करते हुए अपना अभिमत निम्न प्रकार से प्रकट किया है।[4]

"लोक संस्कृति शिष्ट संस्कृति की सहायक होती है। किसी देश के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों तथा क्रिया-कलापों के पूर्ण परिचय के लिए दोनों संस्कृतियों में परस्पर सहयोग अपेक्षित रहता है। इस दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद का पूरक है। ये दोनों संहितायें दो विभिन्न संस्कृतियों के स्वरूप की परिचारिकायें हैं। यदि अथर्ववेद लोक-संस्कृति का परिचायक है तो ऋग्वेद शिष्ट संस्कृति का दर्पण है। अथर्ववेद के विचारों का धरातल सामान्य जन-जीवन है तो ऋग्वेद का विशिष्ट जन-जीवन है।"

ऋग्वेद में यज्ञ-यागादिकों का विधान पाया जाता है तो अथर्ववेद में अन्ध-विश्वास, टोना-टोटका, जादू और मन्त्र का वर्णन उपलब्ध होता है। इस प्रकार ऋग्वेद में शिष्ट तथा संस्कृत जन के विचारों का विवरण मिलता है तो अथर्ववेद में सामान्य जनता के जीवन का चित्रण हुआ है। इस प्रकार ये दोनों वेद दो विभिन्न संस्कृतियों के प्रतीक हैं।

उपनिषद् काल में भी ये दोनों संस्कृतियाँ पृथक् रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। बृहदारण्यक, कठोपनिषद् तथा अन्य उपनिषदों में जहाँ आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत् आदि का वर्णन है, वें अभिजात संस्कृति के ग्रन्थ हैं। परन्तु जिनमें लोक-जीवन का वर्णन है, जिनमें लोक-विश्वास तथा लोक रीति-रिवाजों का उल्लेख है उनका सम्बन्ध निश्चय ही लोक संस्कृति से है। गृह्य-सूत्रों को यदि लोक-संस्कृति का विश्वकोष कहें तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी।"[5]

---

[4]उपाध्याय, कृष्णदेव, लोकसंस्कृति की रूपरेखा, (२०१४) इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, पर पृष्ठ १२ पर उद्धृत सन्दर्भ "समाज पत्रिका (काशी विद्यापीठ) वर्ष ४, अङ्क ३ (१९५८), पृ. ४४६"।

[5] उपाध्याय, कृष्णदेव, लोकसंस्कृति की रूपरेखा, (२०१४) इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, पृ. १२-१३॥

इस प्रकार हम देखते है कि अभिजात संस्कृति एवं लोक-संस्कृति में संस्कृतिगत भेद मानने का एक ही आधार है और वह है – जब विचार-पङ्क्ति सामान्य जन-जीवन के धरातल से उपजी हो तब उन विचारों की भूमि "लोक-संस्कृति" कही जाती है अन्यथा विशिष्ट जन-जीवन के आधार पर उपजे विचार शिष्ट संस्कृति अथवा अभिजात संस्कृति से उपजे विचार कहे जाते है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में अभिजात, शिष्ट, शास्त्र तथा लोक – यें परस्पर विरोधी मानसिकता का चित्रण नहीं करते है। जब तथाकथित शास्त्रीय और अभिजात संस्कृति मुरझाने लगती है या मलिन हो जाती है तो "लोक" से जीवन-रस पाती है।

अवधेय है कि साहित्य-शास्त्र में प्रचलित "लोक-वार्त्ता", "लोक-साहित्य", "लोक-सङ्गीत", "लोक-कला", "लोक-विश्वास" आदि शब्द "Folklore" की पश्चिमी अवधारणा से जुडे हुए है। आधुनिक समाजवैज्ञानिक और नृतत्त्वशास्त्रीय सन्दर्भों में आदिम और कबीलाई समाज तथा कृषक और ग्रामीण समाज के समस्त सांस्कृतिक उपादानों और आयामों को "फोकलोर" अथवा "लोक-वार्ता" में समेटा गया।

ध्यातव्य है कि आधुनिक, सभ्य, प्रगतिशील, वैज्ञानिक, व्यस्थित, परिष्कृत और निबद्ध के विपरीत आदिम, बर्बर, असभ्य या अर्द्धसभ्य, अविकसित, अवैज्ञानिक, अलिखित अर्थात् मौखिक परम्परा से लोक-कण्ठ में प्रवाहित संस्कृति को "लोक-संस्कृति" कहा जाता है। इसका प्रमुख कारण उन्नीसवीं शताब्दी में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के विकास के कारण पूँजीपति और श्रमिक-वर्ग के उदय के साथ ही विशाल मध्यवर्ग का उदय एवं इस शहरी यूरोपीय उच्च वर्ग तथा मध्यवर्ग के द्वारा अपने आप को कृषक और मजदूर संस्कृति से सर्वथा वियुक्त कर लेना है। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी बाजार और कच्चे माल की खोज में आरूढ साम्राज्यवाद ने विजित देशों की संस्कृति से श्रेष्ठ और प्रगतिशील संस्कृति होने की धारणा का दम्भ भी भरा।

भारतीय साहित्य एवं समाज में "लोक-संस्कृति" की अवधारणा को उन्हीं सन्दर्भों के आलोक में परिभाषित नही किया जा सकता, जिन सन्दर्भों के आलोक में "फोक" को पश्चिम जगत् परिभाषित करता है।

भारतीय वाङ्मय "लोक" और "शास्त्र" में एक सतत संवाद और आदान-प्रदान का सम्बन्ध द्योतित करता है। जो कुछ लोक में है, वही कभी "शास्त्र" बनता दिखता है और जो शुद्ध शास्त्रीय रूप है वह कालान्तर में शास्त्रीय न रहकर लोक में जीवित दिखता है। "लोक" और "शास्त्र" में विरोध कम परन्तु संवाद और विनिमय का सम्बन्ध ही अधिक है।

संस्कृत वाङ्मय में लोक-संस्कृत एवं संस्कृत का जन-भाषीय रूप

संस्कृत वाङ्मय में "लोक-संस्कृति" से तात्पर्य आदिम, बर्बर, असभ्य या अर्द्धसभ्य, अविकसित, अवैज्ञानिक संस्कृति से नही है और न हीं अलिखित अर्थात् मौखिक परम्परा से लोक-कण्ठ में प्रवाहित संस्कृति को पिछडी एवं आधुनिक, सभ्य, प्रगतिशील, वैज्ञानिक, व्यवस्थित, परिष्कृत और निबद्ध के विपरीत अवैज्ञानिक संस्कृति समझा जाता है। भारतीय साहित्य एवं समाज में मौखिक परम्परा या लिखित परम्परा तो वह है, जिसे सर्वथा दिव्य, दोषशून्य, पूर्ण और शाश्वत माना गया है – वह है वैदिक परम्परा या श्रौत परम्परा। संस्कृत वाङ्मय में लोकोन्मुखता के आधार की खोज प्रथम क्षणतः विरोधाभास-सी प्रतीत होती है। क्योंकि "संस्कृत" का अर्थ आधुनिक परिप्रेक्ष्यों में "परिष्कृत" और "परिमार्जित" किया जाता है अतः ऐसे परिमार्जन एवं संवर्धन का सम्बन्ध "शिष्ट", "अभिजात" और "उच्च-वर्ग" से ही होना चाहिए, न कि "लोक" शब्द से बोधित "सामान्य-जन" के साथ।

अनेकों भाषा-विदों ने संस्कृत को कदापि लोक में व्यवहृत होने वाली भाषा के रूप में स्वीकृति नही दी है। उक्त विद्वानों ने प्राकृत को लोक-भाषा के रूप में तथा संस्कृत को शास्त्रीय भाषा के रूप में ही व्यवहृत किया है। विद्वानों के मतानुसार प्राकृत प्राचीन प्रचलित जनभाषा है। इस

प्रतिपत्ति का आधार प्राकृत शब्द की व्युत्पति है - "प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्" । अतः विद्वानों के मतानुसार प्राकृत लोक-भाषा थी एवं संस्कृत इसी लोक-भाषा का व्याकरणीय-नियमों के आधार पर किया गया परिष्कृत रूप है।

यहाँ यह अवधेय है कि "प्राकृत"शब्द के शाब्दिक अर्थ (प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्) के आधार पर विद्वानों द्वारा जो धारणा गडी गई, निःसन्देह वह धारणा आशङ्कनीय है । "प्राकृत" का शाब्दिक अर्थ इस भाषा के जन-भाषात्व को ही प्रकाशित करता है। परन्तु "प्राकृत" शब्द को विद्वानों ने भाषा-विशेष (वस्तुतः इस भाषा-विशेष को "मध्यकालीन प्राकृत" नाम से पुकारा जाना चाहिए) के अर्थ में रूढ शब्द माना है। इस प्रकार एक तरफ तो (इसका जन-भाषात्व प्रतिपादन करने की दिशा में) भाषा-विद् "प्राकृत" का यौगिक अर्थ स्वीकार करते है और एक तरफ "प्राकृत" को भाषा-विशेष (मध्यकालीन प्राकृत । कई भाषा-विदों ने इस मध्यकालीन आर्य-भाषा को "साहित्यिक प्राकृत" नाम दिया है । "मध्यकालीन प्राकृत" शब्द से मुख्यतः सात भाषाएँ[6] समझी जाती है – मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, सूरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीक, दाक्षिणात्य आदि) |

विचार करने पर ज्ञात होता है कि संस्कृत का ही विकृत रूप मध्यकालीन प्राकृत है । "मध्यकालीन प्राकृत" के लिए प्रयोग किया जाने वाला "प्राकृत" शब्द "व्यक्तिवाचक संज्ञा" पद है, जबकि परिष्कृत भाषा, जिसको कालान्तर में "संस्कृत" नाम मिला, उसी परिष्कृत भाषा का जो

---

6 "मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी । बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः" (नाट्य-शास्त्रम्, १७/४८)

रूप लोक में प्रचलित था उस रूप का वाचक "प्राकृत" शब्द "जातिवाचक संज्ञा" पद है । डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने "भाषा-विज्ञान एवं भाषा-शास्त्र" ग्रन्थ में प्राकृत की तीन अवस्थाएँ गिनाई है – प्राचीन प्राकृत (जन-भाषीय संस्कृत), मध्यकालीन प्राकृत, अपभ्रंश ।

"प्राकृत" और "संस्कृत" का प्रकृति-विकृति-भाव अथवा विकृति-प्रकृति-भाव- इस विषय में भ्रम और विवाद का कारण "संस्कृत"शब्द भी है । विद्वानों ने "संस्कृत" शब्द से अभिप्राय लिया है – "पाणिनि आदि आचार्यों के द्वारा संशोधित भाषा" । इसी प्रतिपति के आधार पर उक्त विद्वानों द्वारा संस्कृत का विकृतीकरण अर्थात् प्राकृत रूप असम्भव माना जाता है । तन्मतानुसार "पाणिनि आदि द्वारा परिष्कृत संस्कृत भाषा रूढ और नियम-निगडित हो गई, अतः इसमें कोई परिवर्तन-परिवर्धन सम्भव नहीं था।" परन्तु विद्वानों के एक वर्ग में धारणा अत्यन्त पुष्ट है कि ईसा-पूर्व तक संस्कृत जन-भाषा और लोक-व्यवहार की भाषा थी । इसके दो रूप प्रचलित थे – (क) साहित्यिक तथा ; (ख) जन-भाषा । साहित्यिक भाषा में परिवर्तन बहुत कम होते थे, परन्तु जन-भाषा वाली संस्कृत स्वाभाविक रूप से प्रचलित रही । इसमें ध्वनि-भेद, शब्द-भेद आदि प्रचुर मात्रा में चलते रहे । महाभाष्यकार पतञ्जलि के कथन से भी यह स्पष्ट होता है –

".....एवं हि श्रूयते- यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः पराऽपरज्ञा विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः । ते तत्रभवन्तो यद्वानस्तद्वान इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते, याज्ञे पुनः कर्मणि नापभाषन्ते ।...." (परस्पशाह्निकम्)

अर्थात्, इस प्रकार सुना जाता है कि – "यर्वाण तर्वाण नाम के धर्म को प्रत्यक्ष करने वाले, पर अपर को जानने वाले (=सर्वज्ञकल्प), जानने

योग्य समस्त विद्यायों वा पदार्थ को जानने वाले, और यथावत् तत्त्व को जानने वाले ऋषि हुए थे । वे पूजनीय "यद्वा नस्तद्वा नः" के स्थान में "यर्वाणस्तर्वाणः" ऐसा प्रयोग करते थे । किन्तु यज्ञकर्म में वे अपभाषण नहीं करते थे ।"

स्पष्ट है कि संस्कृत का बोल-चाल का भी रूप प्रचलित था । जन-भाषा में परिनिष्ठता नहीं थी । संस्कृत भाषा का यहीं जन-भाषीय रूप विकसित होते हुए मध्यकालीन प्राकृतों के रूप में प्रसिद्ध हुआ । डॉ. कपिलदेव द्विवेदी साहित्यिक संस्कृत एवं जन-भाषा संस्कृत के विषय में अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते है -

"संस्कृत से केवल पाणिनि-सम्मत भाषा ही नहीं समझना चाहिए । जन-व्यवहृत भाषा का साहित्यिक रूप "संस्कृत" कहा गया और बोल-चाल की संस्कृत का नाम "प्राकृत" रहा । इसी आधार पर प्राकृत के सभी वैयाकरणों ने संस्कृत को आधार मानकर ध्वनि-परिवर्तन आदि समझाए है । नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि (चतुर्थ शती ई.पू.) ने भी यही मत प्रतिपादित किया है कि संस्कृत भाषा के शब्दों का ही विकृत एवं परिवर्तित रूप प्राकृत भाषा है ।

"एतदेव विपर्यस्तं संस्कार-गुण-वर्जितम् । विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानाऽवस्थाऽन्तरात्मकम् ॥" (नाट्यशास्त्रम्, १७/२)"

इस भाषा के लिए "संस्कृत" इस संज्ञा का प्रयोग व प्रचलन परवर्ती काल में हुआ । पाणिनि ने इसके जन-भाषा वाले लौकिक रूप को मात्र "भाषा" ही कहा है । "भाषा" से पाणिनि का आशय इसके लोक में प्रचलित रूप से ही था । परवर्ती काल में जिस भाषा को "संस्कृत"अभिधान से प्रसिद्ध किया गया, उसके लिए आचार्य यास्क (७०० ई.पू.), पाणिनि (५०० ई.पू.) तथा पतञ्जलि (दूसरी शती ई.पू.) आदि के द्वारा प्रयुक्त प्राचीन नाम "भाषा" है । टी.बोरो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "दी संस्कृत

लेंग्वेज" में भारतवर्ष के नागरिकों की भाषा का नाम "भारती" उल्लिखित किया है –

> ".....In addition we may note that one of the terms for "speech", *Bhaarati* had originally an ethnic sense, meaning "language of the *Bhaaratas*""[7]

परवर्ती काल में "संस्कृत" नाम से व्यवहृत होने वाली इस भाषा के इन दोनों रूपों की स्पष्ट चर्चा वाल्मीकि रामायण में भी है। हनुमान् सीता को राम का सन्देश देने के पहले विचार करते हैं कि मैं द्विजातियों के द्वारा बोली जाने वाली संस्कृत भाषा में सीता देवी को सन्देश सुनाउँ या सामान्य जनों के द्वारा बोली जाने वाली संस्कृत में? यदि द्विजातियों के द्वारा बोली जाने वाली संस्कृत में इनसे बातचीत करूँगा, तो कहीं ये मुझे छद्मवेषधारी रावण समझ कर डर न जायँ, अतः मैं सामान्य जनों के द्वारा बोली जाने वाली संस्कृत में ही इसने बातचीत करूँगा। यथाहि –

> "यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्। रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥
>
> अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः। वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्॥" (वा.रा., ५/३०/१७-१८)

प्रस्तुत श्लोक में "संस्कृताम्" पद को लेकर भी विवाद है। कुछ विद्वान् इसका अर्थ "संस्कारिता वाणी"करते है तथा प्रस्तुत पद को "जन-भाषा"का विशेषण मानते हुए व्याख्यात करते है कि यहाँ "संस्कृता" पद

---

[7] Burrow, T., The Sanskrit Language, (Indian Edition, 2001), Delhi: Motilal BanarasiDass, P. 1 .

संस्कृत-भाषा का परिचायक नही है अपितु प्रचलित जन-भाषा (संस्कृत से दूसरी भाषा) का संस्कार-पूत—रूप का परिचायक है। परन्तु यह ध्यातव्य है कि अनेक प्राचीन भाषा-विद्वों के द्वारा "संस्कृता" इस स्त्रीलिङ्ग पद का प्रयोग संस्कृत-भाषा के ही अर्थ में किया गया है।[8] वाल्मीकि-रामायण में एक ओर प्रसङ्ग ध्यान में आता है यहाँ "इल्वल" नामक दैत्य के द्वारा ब्राह्मणों को धोखा देने के लिए उनसे संस्कृत में संवाद करने का जिक्र है। यथाहि –

> "धारयन् ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन्। आमन्त्रयति विप्रान् स श्राद्धमुद्दिश्य निर्घृणः॥" (वाल्मीकिरामायणम्, आरण्यककाण्डम्, वातापिकथाप्रसङ्ग)

प्रस्तुत प्रसङ्ग से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि रामायण-काल में दैत्य जातियाँ भी आवश्यकता पडने पर संस्कृत में संवाद करती थी। सम्भवतः ऐसी स्थिति तत्काल में रही हो कि समाज में लोग परस्पर व्यवहार अपनी-अपनी देशज भाषा में करते हो और व्यापक स्तर पर संस्कृत ही संवाद का माध्यम हो।

लेखक के मतानुसार, ईसापूर्व सहस्त्राब्दियों में वैदिक भाषा के साहित्यिक भाषा मात्र रह जाने पर परिषदों, सभाओं एवं शिक्षणसंस्थानों में शिक्षा के माध्यम के रूप में तत्काल प्रचलित वैदिक भाषा के विकृतरूप लोकभाषा और प्राचीन वैदिकभाषा जिसे "छांदस" कहा जाता है, इन दोनों

---

[8] काव्यादर्श के प्रथमाध्याय के तीसरे पद्य की टीका में टीकाकार संस्कृत भाषा के लिए स्त्रीलिङ्ग का ही प्रयोग करता है – "इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा। वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते॥" <हृदङ्गमा टीका , ".....तत्रोत्तमाः संस्कृतयैव वाचा व्यवहरन्ति.....">

की विशेषताओं से समन्वित एकीकृत भाषा संस्कारित होकर विकसित हो रही थी। यह वही समय था जब काफी सीमा तक मन्त्र-साहित्य एवं ब्राह्मणसाहित्य, आरण्यकों एवं उपनिषदों की रचना समाप्त हो चुकी थी। एशियाई महाद्वीप में यानि, कंधार से लेकर बर्मा और श्रीलंका से तिब्बत तक बोली जा रही विभिन्न प्रकार की लोकभाषाओं (यथा ऊपर प्रतिपादित किया जा चुका है कि कालान्तर में वैदिक भाषा ही लोक-भाषाओं के रूप में प्रचलित हुई। वैदिक भाषा के शब्दों का ही विकृत एवं परिवर्तित रूप लोक-भाषा था।) के एक एकीकृत रूप की स्वाभाविक जरूरत थी। इसे पूरा करने के लिए भाषाओं को संस्कारित किया जा रहा था। भाषाओं के संस्करण से तात्पर्य साहित्यिक भाषा के आलोक में लोक-भाषा की वर्णावलि अथवा पदावलि के परिवर्तन अथवा परिष्करण से नहीं है, अपितु भारतीय-वैयाकरण-परम्परा के अनुसार लोक में प्रचलित शब्द एवं अर्थ के आधार पर ही तच्छब्द के मूल के अन्वेषण से है। अतः शब्दों की व्युत्पत्ति बताने का कार्य ही विशुद्धतः भारतीय-वैयाकरण-परम्परा की प्रधान विशेषता बना।

इस क्रम में अनेक व्याकरण रचे गए, जिनकी परिणति पाणिनि के अष्टाध्यायी के रूप में हुई। पाणिनि ने इसे वैदिक छांदस भाषा तथा लौकिक भाषा- दोनों ही भाषाओं का अनुशासन कहा। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में अपने से पूर्व अनेकों वैयाकरणों को उद्धृत किया है। पाणिनि ने संस्कारित हो रही या हो चुकी जिस वैदिक एवं लौकिक एकीकृत भाषा को अनुशासित किया उसका नाम पाणिनि के हजार साल बाद तक भी अलग- अलग ही रहा। यथाहि, कालिदास ने इसे संस्कारपूता भाषा कहा है। ऐसी संस्कारपूता भाषा में लोकभाषाओं के शब्द आने उसी तरह अपरिहार्य हैं जैसे कि खडी बोली की हिन्दी में क्षेत्रीय बोलियों और भाषाओं के शब्द हैं। कुछ तत्सम, कुछ तद्भव कुछ देशज कुछ विदेशज।

ईसा-पूर्व के काल की कृति "वात्स्यायन-कामसूत्र" के नागरक-वृत्त प्रकरण में काव्यगोष्ठियों में संस्कृत तथा देशज दोनों प्रकार की भाषा में संवाद करने का निर्देश दिया गया है। वात्स्यायन का निर्देश है कि इन गोष्ठियों में लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए न तो अत्यधिक संस्कृत का प्रयोग किया जाना चाहिए, और न ही अत्यधिक देशज भाषा का –

"नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं लोक-भाषया। कथां गोष्ठीषु कथयंल्लोके बहुमतो भवेत्॥" (कामसूत्रम्, १/४/३७)

इन सभी उद्धरणों से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि संस्कृत कदापि देशज भाषा की विरोधी भाषा नही रही और काव्य-गोष्ठियों में इसकी स्वीकारोक्ति इस तथ्य को प्रामाणित करती है कि ऐसी स्थिति भी कदापि नही थी जब संस्कृत का लोक में किसी भी प्रकार का विरोध व्याप्त था।

इस आधार पर संस्कृत वाङ्मय में लोकोन्मुखता के आधारों की खोज निश्चय ही विरोधी प्रतिपत्ति होगी। संस्कृत वाङ्मय में लोकोन्मुखता पर चर्चा के लिए आवश्यक है कि पहले भारतीय परिप्रेक्ष्य में "लोक-संस्कृति" की धारणा पर विचार किया जाए।

अतः "फोकलोर" के आधार में विद्यमान मौखिक परम्परा की धारणा भारतीय सन्दर्भों में अर्थहीन हो जाती है, यहाँ सामन्ती विकास के अन्तिम दौर में भी सर्वशुद्ध, दोषरहित, शाश्वत और परिष्कृत परम्परा का प्रतिनिधित्व मौखिक परम्परा ही करती है। इसके साथ ही "दास" और "कृषक" वर्ग की सम्पूर्ण संस्कृति थोक भाव से बर्बरता, असभ्यता, अविकास और पिछडेपन के सन्दर्भों में कभी नहीं देखी गयी।

"लोक" शब्द का अर्थ

लोक शब्द संस्कृत के "लोक दर्शने" धातु से "घञ्" प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इस धातु का अर्थ "देखना" है। अतः "लोक" शब्द का अर्थ हुआ "देखने वाला"। "लोक" शब्द से ही हिन्दी भाषा में प्रचलित "लोग" व्युत्पन्न माना जाता है जिसका तात्पर्य है "सर्वसाधारण जनता"। अतः "लोक" शब्द का अभिप्राय उस समस्त जनसमूह से है जो किसी देश में निवास करता है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक के सम्बन्ध में अपने विचारों को प्रकट करते हुए लिखा है कि – "लोक शब्द का अर्थ "जानपद" या "ग्राम्य" नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समस्त जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल तथा अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं उन्हें उत्पन्न करते हैं"। [9] भारत के लोक साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. कुञ्ज विहारी दास ने लोक शब्द की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की हैं –

> "The People that live in more or less primitive conditions outside the sphere of sophisticated influences."[10]

इससे स्पष्टतया ज्ञात होता है को जो लोग संस्कृत तथा परिष्कृत लोगों के प्रभाव से बाहर रहते हुए अपनी पुरातन स्थिति में वर्तमान हैं उन्हें हीं लोक कहा जाता है।

---

[9] "डॉ. द्विवेदी – "जनपद"वर्ष १ , अङ्क १ , पृ. ६५" उपाध्याय, कृष्णदेव, लोक संस्कृति की रूपरेखा, इलाहाबाद : लोक भारती प्रकाशन , पृ. १०।

[10] "Dr. Das, A study of Orissan Floklore" उपाध्याय, कृष्णदेव, लोक संस्कृति की रूपरेखा, इलाहाबाद : लोक भारती प्रकाशन , पृ. १०।

लोक शब्द की प्राचीनता

साहित्य में लोक शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है । साधारण जनता के अर्थ में इसका प्रयोग ऋग्वेद में अनेक स्थानों में किया गया है । ऋग्वेद में लोक शब्द का अर्थ बतलाने के लिए "जन" शब्द का प्रयोग भी उपलब्ध होता है । वैदिक ऋषि कहता है कि विश्वामित्र के द्वारा उच्चरित यह ब्रह्म / मन्त्र भारत के लोगों की रक्षा करता है । यथाहि ,

"य इमे रोदसी उभे ,अहमिन्द्रमतुष्टवम् । विश्वामित्रस्य रक्षति , ब्रह्मेदं भारतं जनम् ॥" (ऋग्वेद, ०३/५३/१२)

ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध पुरुष-सूक्त में "लोक" शब्द का व्यवहार जीव तथा स्थान दोनों ही अर्थों में हुआ है । यथाहि,

"नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत । पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयत् ॥" (पुरुष-सूक्तम्, २४)

संस्कृत व्याकरण के पाणिनीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में "लोक" तथा "सर्वलोक" शब्दों का उल्लेख किया है तथा इनसे "ठञ्" प्रत्यय करने पर "लौकिकः" तथा "सार्वलौकिकः" शब्दों की निष्पत्ति स्वीकार की हैं ।[11] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने जनसाधारण के अर्थ में "लोक" शब्द का व्यवहार किया है तथा लोक में प्रचलित "गौः" शब्द के अनेक अपभ्रंश रूपों का उल्लेख किया है ।[12] महर्षि कृष्ण-द्वैपायन वेद-व्यास ने महाभारत की विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह ग्रन्थ

---

[11] "लोकसर्वलोकाट्ठञ्" (अष्टाध्यायी, ०५/०१/४४) ।

[12] "..... केषां शब्दानाम् ? लौकिकानां वैदिकानाञ्च । लौकिकास्तावत् – गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिः मृगो ब्राह्मण इति । वैदिकाः खल्वपि – शन्नो देवीरभिष्टये । इषे त्वोर्ज्जे त्वा । अग्निमीळे पुरोहितम् । अग्न आयाहि वीतय इति ।" ; ".....एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः ।" (पस्पशाह्निकम्, महाभाष्यम्)

अन्धकार रूपी अज्ञान से व्यथित लोक (सामान्य जनता) की आँखों को ज्ञान रूपी अञ्जन की शलाका से खोलने वाला है। यथाहि ,

"अज्ञान-तिमिरान्धस्य लोकस्य तु विचेष्टतः । ज्ञानाञ्जन-शलाकाभिः नेत्रोन्मीलनकारकम् ॥" (महाभारतम्, आदिपर्वम्, १/८४)

इसी प्रकार से महाभारत में वर्णित विषयों की चर्चा करते हुए लोक-यात्रा का उल्लेख किया गया है। यथाहि,

"पुराणानां चैव दिव्यानाम्, कल्पानां युद्ध-कौशलम्। वाक्यजातिविशेषाश्च, लोकयात्रा क्रमश्च यः ॥" (महाभारतम्, आदिपर्वम्, १/६९)

भगवद्गीता में "लोक" तथा "लोक सङ्ग्रह" आदि शब्दों का प्रयोग अनेक स्थानों पर पाया जाता है। गीता में लोक सङ्ग्रह पर बडा बल दिया गया है।

"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः । लोकसङ्ग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥" (श्रीमद्भगवद्गीता, ३/२०)

इन कतिपय उल्लेखों से ज्ञात होता है कि लोक शब्द अत्यन्त प्राचीन है और सामान्य जनता के अर्थ में इसका प्रयोग चिरकाल से चला आ रहा है।

वाङ्मय सृष्टि: विश्व साहित्य से भारतीय वाङ्मय के वैशिष्ट्य का आलोचन

प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवेश के प्रति क्रियाशील रहता है । व्यक्ति अनन्त है और परिवेश भी अनन्त है। फलस्वरूप प्रतिक्रियाएँ (अनुभूतियाँ) भी अनन्त होती है । अनन्त होने पर भी परिवेश को सरलता से द्विधा विभाजित किया जा सकता है – प्राकृतिक परिवेश और मानवीय परिवेश। प्राकृतिक परिवेश में मानवेतर समग्र जगत् का और मानवीय परिवेश में मानव-समाज का समावेश हो सकता है।

व्यक्ति भी चाहे जितने हों, उनकी प्रतिक्रियाएँ भी द्विविध ही होती हैं – ज्ञानात्मक और भावात्मक। ज्ञानात्मक प्रतिक्रियाओं का सम्बन्ध व्यक्ति की ज्ञान-वृत्तियों से है और भावात्मक प्रतिक्रियाओं का भाव-वृत्तिओं

से है। अपनी ज्ञान-वृत्तियों के द्वारा ही व्यक्ति अपने परिवेश को जानता है। परिवेश जाना गया नहीं कि वह सुखद और दुःखद भी प्रतीत होने लगता है। यह कार्य भाव-वृत्तियों के द्वारा होता है। यह स्पष्ट है कि दोनों प्रतिक्रियाएँ साथ-साथ होती है। स्वरूप-भेद के कारण ही इनका विभाजन किया जाता है। इन प्रतिक्रियाओं के द्वारा व्यक्ति अपने को अपने परिवेश के अनुकूल अथवा अपने परिवेश को अपने अनुकूल बनाता है।

इन प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्तियाँ भी विविध होती है। कुछ अभिव्यक्तियाँ तो मात्र शारीरिक व्यापारों द्वारा सम्पन्न होती हैं और कुछ भौतिक उपादानों की सहायता से। जैसी प्रतिक्रियाएँ वैसी उनकी अभिव्यक्तियाँ भी ज्ञानात्मक और भावात्मक दोनों हो सकती है। ज्ञानात्मक अभिव्यक्तियाँ सत्य होने पर ज्ञान अथवा विज्ञान कहलाती है तो भावात्मक अभिव्यक्तियाँ सुन्दर होने पर कला और साहित्य की संज्ञा प्राप्त करती है। भौतिक उपादानों की सहायता से निष्पन्न होने वाली सुन्दर अभिव्यक्तियों में वास्तु, मूर्त्ति और चित्र की गणना हो सकती है तथा मात्र शारीरिक व्यापारों द्वारा निष्पन्न होने वाली सुन्दर अभिव्यक्तियों में नृत्य, गीत और साहित्य की।

अभिव्यक्तियों का सर्वप्रमुख माध्यम है "भाषा"। इस माध्यम की विशेषता के कारण ही एक ओर विपुल वैज्ञानिक वाङ्मय की सृष्टि हो सकी तो दूसरी ओर महान् साहित्य की। माध्यम के एक होने के कारण इन दोनों का सङ्कर भी होता रहता है। किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि साहित्य का उद्भव भावात्मक प्रतिक्रिया से होता है, भावात्मक प्रतिक्रिया ही उसका विषय है और पाठकों तथा श्रोताओं में वह भावात्मक प्रतिक्रिया ही उत्पन्न करता है।

भावात्मक प्रतिक्रियाएँ और उनकी अभिव्यक्तियाँ कितनी भी निजी किसी की क्यों न हों, मानवीय होने के कारण वें सामान्यतः सर्वबोध्य और सर्वभोग्य होती हैं। विभिन्न मानव-समाजों में जो व्यावर्तक गुण

दिखाई देते हैं उन्हें तत्तत् परिवेशोद्भूत ही मानना चाहिए। ये व्यावर्तक गुण तीन प्रकार के होते हैं – जातीय, जनीय और वांशिक। एक ही वंश में उत्पन्न व्यक्तियों में जो व्यावर्तक गुण दिखाई देते है उन्हें "वैयक्तिक" कह सकते है। इस प्रकार मूलतः परिवेश ही सभी व्यावर्तक गुणों के पीछे है। इतना मान लेने के बाद अनुभूति (भावात्मक प्रतिक्रिया) और उसकी अभिव्यक्ति में व्यक्ति-भेद से जो मात्रा-भेद और प्रकार-भेद लक्षित होते हैं उनके निर्माण में जातीय, जनीय, वांशिक और वैयक्तिक विशेषताओं का हाथ स्वीकार किया जा सकता है। प्राकृतिक परिवेश सर्वत्र सर्वदा एक-से कभी नहीं रहे हैं और उनसे प्रभावित मानवीय परिवेश भी विसदृश रहते आये हैं। समान परिवेश में नहीं रहने के कारण ही मानव आज जातियों में बँटा हुआ है। विभिन्न जातियों के अनुभूति-अभिव्यक्ति-प्रकार में जो भेद लक्षित होते हैं उनका कारण सामाजिक परिवेश-विशेष ही है। किसी भी जाति का सामाजिक परिवेश उसके सर्वाङ्गीण इतिहास से ही निर्मित होता है। दो देशों की दो भिन्न जातियों के कवियों की रची कविताओं की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है।

एक ही जाति के जन जब दो दूर देशों में बस जातें हैं तो अनुभूति-अभिव्यक्ति-गत प्रकार-भेद कालक्रम से विशिष्टता प्राप्त कर लेते हैं। आर्यों के ही कई जन जब ग्रीस में और कई भारत में बस गये तो दोनों देशों के परिवेशों ने उन्हें अपने-अपने वर्ण-वेश में सजाना शुरु कर दिया जिसका प्रतिफलन दोनों देशों के साहित्यों में हुआ है। ग्रीक नाटककार "सोफोक्लेस" (४९५-४०५ ई.पू.) के "अन्तिगोने" नाटक की अन्तिगोने कहती है –

"A husband lost might be replaced; a son,
If son were born to me, might yet be born;
But with both parents hidden in the tomb
No brother may arise to comfort me."

भारत के आदि कवि वाल्मीकि की रामायण में लक्ष्मण के मूर्छित होने पर राम कहते हैं –

"देशे-देशे कलत्राणि, देशे-देशे च बान्धवाः । तं तु देशं न पश्यामि, यत्र भ्राता सहोदरः ॥" (वाल्मीकीय रामायण, ६/१०२/१४)

दो दूर देशों के परस्पर अज्ञात कवियों के दो पात्र किस प्रकार एक ही करुण-स्रोत से अपनी अलग-अलग भाव-धाराएँ प्रवाहित कर रहे हैं, यह सर्वथा स्पष्ट है । किन्तु क्या दोनों भाव-धाराओं की गहराई और बहाव में भेद नही है ? अन्तिगोने की वाणी में जो असहाय हाहाकार गूँज रहा है वह राम में नहीं है । राम में वह दमित जान पडता है । अच्छे शब्दों में कहना हो तो कह सकते है , मर्यादित जान पडता है ।

यदि पूछा जाय कि इस एक ही अनुभूति की मात्रा और उसके अभिव्यक्ति-प्रकार में जो अन्तर है उसका कारण क्या है, तो निःसन्देह कारण की खोज प्रधानतः परिवेश में ही करनी पडेगी । ग्रीस का जीवन उसके आस-पास के लहराते समुद्र की तरह अत्यन्त द्रव था जिसे हवा का हलका-सा झोंका भी इस पार से उस पार तक हिला देता था, जबकि भारत की सुदूरव्यापी समतल भूमि में झंझा का बडा झोंका भी यों गुजर जाता था कि उधर नजर भी नहीं जाती थी । परिणामस्वरूप प्रबल वात्याचक्र में पडने पर भी यहाँ सामान्यतः मर्यादा देखी जाती है । वाल्मीकि के राम रावण की मृत्यु पर शान्त भाव से कहते हैं –

"मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम् । क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥" (वाल्मीकि रामायण, ६/११२/२६)

किन्तु सोफोक्लेस का क्रेओन पोलुनेइकेस की मृत्यु के बाद भी चिल्ला उठता है –

"He shall have no lament, no funeral, But be unburied, for a carrion fowl and dogs to eat his corse, a sight of shame."

ऋग्वेद के दशम मण्डल के "१८" वें सूक्त (मृत्यु-सूक्त) के रूप में जीवन के उस पार के अन्ध गुहा-पथ पर जो कविता रची गई है वह एकाकी पथिक को यह स्मरण कराये विना नहीं रहती कि, "घबडायो मत, यहाँ भी कहीं-न-कहीं ह्रदय है" । जिस पृथिवी के अन्तस्तल में उसे रखा जा रहा है वह क्या मिट्टी ही मिट्टी है ? नहीं तो । वह तो ऊन-सी कोमल युवती माँ है । कवि उस माँ की गोद में जाने के लिए मृतक से कहता है –

"उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवां । ऊर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात् ॥" (ऋ., १०/१८/१०)

मृत की रक्षा करने के लिए कवि पृथिवी माता को सम्बोधित कर कहता है –

"हे धरती माता ! तूँ इस मृत शरीर से, जो अब तेरी गोद में आ गया है, ऊपर उठे रहना और इसे नीचे की ओर दबाकर दुःखी मत करना । तूँ इसे सुख से अपने पास लगाने वाली और लाड लडाने वाली हो । जिस प्रकार माँ अपने पुत्र को अपने आँच से ढक लेती है, उसी प्रकार तूँ इसे सब ओर से अपने शरीर से ढक लें"

विश्व साहित्य के पर्यालोचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कतिपय साहित्य अपने विशेष प्रकार के परिवेश में उत्पन्न होने पर भी वहीं तक सीमित नहीं रहे अपितु अपने देश-काल से ऊपर उठकर मानवीय हो गये है । वैदिक वाङ्मय ऐसा ही साहित्य है । भारत की कविताएँ होने पर भी वें सारे विश्व की कविताएँ है और पुराकाल में रची जाने पर भी पुरानी नहीं हुई है ।

प्रथमाध्याय

वैदिक कविता की लोक-सांस्कृतिक काव्य-धारा

लोक की संस्कृत वाङ्मय में प्रतिबिम्बित अवधारणा को अनेक स्तरों पर और अनेक सन्दर्भों में जाँचा जा सकता है। प्रथम झलक में धर्म, दर्शन एवं भाषिक सन्दर्भ में "लोक" वेद का विपरीतधर्मी भाता है। "वेद" अनादि-साक्षात्कृत-शाश्वत-दिव्य-इतिहासातीत श्रुतिस्वरूप तथा आम्नायरूप अथवा विशिष्ट क्रममयशब्दसंघात तथा कर्मकाण्ड-ज्ञानकाण्डात्मक शब्दराशि है। "वेद" का क्षेत्र "अदृष्टार्थ" है, जबकि लोक का क्षेत्र दृष्ट अथवा प्रत्यक्ष जागतिक जीवन है। भाषिक सन्दर्भ में अनादि आनुपूर्वी वेद है और लौकिक शब्द-राशि "संस्कृत" भाषा कहलाती है।

संस्कृत भाषा को "प्राकृत" की तुलना में देखने पर यदि प्राकृत सहज और सामान्य जनाश्रित भाषाएँ कहीं गई, तों संस्कृत संस्कारवती, परिमार्जित भाषा होने के साथ-साथ विशिष्ट और अभिजात वर्ग की भाषा मात्र प्रतिपादित की गई।[1] यद्यपि संस्कृत भाषा के ही जन-भाषीय रूप का ही नामान्तर "प्राकृत" है। प्राकृत एवं संस्कृत में परस्पर जन्य-जनक भाव नहीं है। कालान्तर में संस्कृत से ही एक भाषा पृथक् हो गई और उसने स्वातन्त्र्येण अपनी सत्ता स्थापित की - ऐसा तभी कहा जा सकता है जब "प्राकृत" शब्द का "व्यक्तिवाचक संज्ञा" पद के तौर पर अर्थ "मध्यकालीन प्राकृत भाषाएँ" माना जाएँ।[2] कालान्तर में संस्कृत का मध्यकालीन प्राकृत

---

[1] संस्कृत जनाश्रित लोक-भाषा थी – इस तथ्य की सप्रामाणिक उपस्थिति "वाङ्मुखम्" में विस्तार से की गई है।

[2] प्रस्तुत सन्दर्भ में "प्राकृत" शब्द "मध्यकालीन प्राकृत भाषाओं" का परिचायक है । इन भाषाओं के वैयाकरणों के द्वारा प्रदत्त "प्राकृत" शब्द की व्युत्पत्ति यहाँ द्रष्टव्य है। यथाहि – "प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्" (हेमचन्द्र) ; "प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते" (प्राकृत-सर्वस्व); "प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्"

भाषाओं के रूप में रूपान्तरण संस्कृत के जनभाषीय रूप का ही रूपान्तरण समझना चाहिए । क्योंकि पाणिनि आदि वैयाकरणों ने भाषिक नियम-निबन्धन द्वारा जन-भाषा संस्कृत को देश-काल वशात् होने वाले परिवर्तनों से बचाने के लिए एक सुदृढ आधार का निर्माण कर लिया था । इन नियमों की परिपालना साहित्य, शास्त्रादि निर्माण काल में तो सर्वदा दिखलाई पडी परन्तु लोक के स्तर पर प्रवाहित नदी के समान भाषा में अनेकों दिशाओं से आने वाले पदार्थ भी मिलते रहे , जिससे जन-भाषा संस्कृत का रूपान्तरण अपरिहार्य रहा ।

अतः प्राचीन प्राकृत "संस्कृत" भाषा का ही रूपान्तरण है । इसको हम यूँ कह सकते है कि संस्कृत भाषा ही प्राकृत नाम से भी कही जाती थी । "प्राकृत" यौगिक शब्द है, जिसका अर्थ है "प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्" अर्थात् व्याकरण, साहित्यादि द्वारा वाणी का संस्करण न होने की स्थिति में बोली जाने वाली स्वाभाविक वाणी "प्राकृत" कही जाती है । यहाँ अवधेय है कि स्वाभाविक रूप से वाचन "संस्कृत" का ही होता था । इस स्वाभाविक स्थिति में मात्र वर्णोच्चारण, शब्द-व्यवहार आदि में परिष्कार नहीं किया होता था । आधुनिक समय में यह प्रसङ्ग हिन्दी भाषा एवं हिन्दी-भाषी प्रदेशों में सामान्य लोगों द्वारा बोली जाने वाली हिन्दी के आलोक में सुगमतया बोधित किया जा सकता है ।

(प्राकृतचन्द्रिका) इत्यादि । "प्राकृतम्" शब्द संस्कृत भाषा का ही शब्द है । प्राकृत वैयाकरणों के द्वारा पाणिनि की व्याकरण के अनुरूप ही प्रस्तुत शब्द की व्युत्पत्ति निर्दिष्ट की गई है । इन व्युत्पत्तियों से स्पष्टतया प्राकृत वैयाकरणों का यहीं विचार लक्षित होता है कि "प्राकृत" भाषा नाम से प्रचलित शब्दों एवं वाक्यों की व्याकरण-लभ्य व्युत्पत्ति तच्छब्दों के मूल संस्कृत भाषा से ही जाननी चाहिए । इसका अभिप्राय प्राकृत वैयाकरणों का यह सुदृढ विचार था कि प्राकृत मूलतः संस्कृत का ही रूपान्तरण है । अतः भारतीय-वैयाकरण-परम्परा के अनुरूप व्याकरण का प्रमुख कार्य उन विकृत हुए शब्दों का प्रचलित साधु रूप बतलाना ही है । प्राकृत वैयाकरण न तो संस्कृत शब्दों का निषेध करते है और "प्राकृत" भाषा नाम से प्रचलित शब्दों की व्युत्पत्ति के निर्देश द्वारा उनकी भी युगपत् उपस्थिति सिद्ध करते हैं ।

अस्तु, "प्राकृत" के साथ संस्कृत के सम्बन्ध को दो ही तरह से देखा जा सकता है – संस्कृत परिशुद्ध, दोषरहित है और प्राकृत उसका अपभ्रंश अथवा संस्कृत "प्राकृत"मूल है और संस्कृत उसका परिष्कार । दोनों ही दृष्टियाँ अपनायी गयी, किन्तु दोनों ही स्थितियों में संस्कृत तथा प्राकृत का सम्बन्ध "संवाद" का ही रहा, विरोध का नहीं ।

प्राचीनकाल से ही लोक-रीतियाँ या आचार प्रामाणिक माने गए हैं। संस्कृत वाङ्मय में प्रतिष्ठित विशाल श्रौत, आगमिक और धर्म-शास्त्रीय साहित्य धर्म, आचार, व्यवहार और विधि की दृष्टि से विपुल सामग्री संजोए हुए जीवित है । श्रौत-साहित्य और श्रौतकर्मों में निहित विशाल विवरणों के अतिरिक्त शान्ति और पुष्टि-कर्म-प्रतिपादक "अथर्ववेद"गृह्य एवं धर्म-सूत्र तथा आगम केवल अभिजात वर्ग की संस्कृति का ही नहीं, अपितु इस विशाल इस विशाल देश के जटिल और अनेक स्तरीय समाज की संस्कृति के प्रायः हर आयाम का प्रामाणिक दस्तावेज है । इसमें निहित लोक-प्रवृत्तियों का प्रामाणिक अध्ययन किया जाना अभी भी शेष है ।

ऋग्वैदिक कविता के लौकिक प्रतिमान

अस्तु, विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से ऋग्वेद की स्तुतियों की प्रमुख पद्धति वर्णनात्मक है । स्तुत्य का वर्णन तो किया ही जाता है, स्तोता का आत्म-निवेदन भी साथ लगा रहता है । साधारणतः आरम्भ वर्णन से होता है और अन्त आत्म-निवेदन में । प्राकृतिक शक्तियों का दैवीकरण हो जाने पर भी पर्जन्य-कविता का वर्णनात्मक पक्ष इतना प्राणवान् है कि "धूमज्योतिस्सलिल-मरुत्" का भीषण सन्निपात ही आँखों के सामने उपस्थित होता है और पर्जन्य देव का कहीं पता भी नहीं चलता । कुछ स्तुतियाँ ऐसी भी हैं, विशेषतः इन्द्र आदि की, जहाँ कथात्मक पद्धति अपनाई गई है ।

ऋग्वेद की ऋचाएँ प्रयोग की दृष्टि से पाठ्य हैं किन्तु उनकी गेयता स्पष्ट है | इसका प्रमाण सामवेद है । सामवेद के १५४९ सामों में से ७५ के

अतिरिक्त सब-के-सब ऋग्वेद से ही लिये गये है। ऋग्वेद से भी अष्टम और नवम मण्डल की ही ऋचाएँ अधिक ली गई हैं। इन मण्डलों की ऋचाएँ अधिकांश में गायत्री और प्रगाथ छन्द में ही हैं।

वैदिक स्तुति-साहित्य से ही आगे चलकर संस्कृत के स्तोत्र-साहित्य और मध्य-युग के सन्तों के भजन-साहित्य का विकास हुआ। भगवान् के प्रति भक्त के ह्रदय में जो समर्पण की भावना होनी चाहिए, उसका चरम विकास मध्य-युग के सन्तों के पदों में ही पाते है जो उत्कृष्ट कोटि के गीति-काव्य में परिगणित किये जा सकते है। यह उल्लेख भी यहाँ अप्रासङ्गिक नहीं होगा कि संस्कृत का स्तोत्र साहित्य भी मध्य-युग के सन्तों की समर्पण-भावना तक नहीं पहुँच सका है। किन्तु एक बात तो स्पष्ट है कि स्तुति-साहित्य की परम्परा किसी-न-किसी तरह चलती रही। ऐसी स्थिति में डॉ. वटकृष्ण घोष का यह कथन कि ऋग्वेद से किसी साहित्यिक परम्परा का जन्म नहीं हुआ, सुविचारित नहीं प्रतीत होता।

प्रकृति के कहीं रम्य तो कहीं परुष रूप के कारण और कवि के कहीं आनदोच्छ्वसित तो कहीं विस्मयाविष्ट हो जाने के कारण, ऋग्वेद की स्तुतियों में कई स्तुतियाँ, जिनमें स्तोता का उद्देश्य स्तुत्य से कुछ माँगना ही क्यों न रहा हो, कुछ ऐसी हो गई हैं कि उन्हें कविता मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। कक्षीवान् की उषा-स्तुति और अत्रि की पर्जन्य-स्तुति इसी प्रकार की है। उषा-कविता में यदि आकाश के कुंकुमाकुलित रङ्ग-मञ्च पर कालिदास की मालविका की मधुर भूमिका में अनावृत्त ज्योतिःस्तनी रक्ताम्बरा उषा को सज-धज कर सुकुमार नृत्य के लिए खडा किया गया है तो पर्जन्य-कविता में प्रचण्ड ताण्डव की खण्ड भूमिका में प्रकृति के पुरुष को भी उभार कर खडा किया गया है। दोनों से एक-एक उदाहरण पर्याप्त होगा –

"उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो, नोधा इवाविरकृत प्रियाणि।

अद्मसन्न ससतो बोधयन्ती, शश्वत्तमागात् पुनरेचुषीणाम् ॥"[3] (ऋग्वेद, १/१२४/४)

तथा,

"अभिक्रन्द्र स्तनय गर्भमा धा, उदन्वता परिदीया रथेन ।

द्रुतिं सुकर्ष विषितं न्यञ्चं, समा भवन्तूद्वतो निपादाः ॥"[4] (ऋग्वेद, ५/८३/७)

देव-स्तुतियों के अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ ऐसे सूक्त भी है जिनका महत्त्व यदि एक ओर दार्शनिक चिन्तन की दृष्टि से है तो दूसरी ओर दर्शन को कविता का दर्शनीय रूप देने के कारण ही कम नही है । ऋग्वेद का सृष्टि-सूक्त (१०/१२९) इसका सुन्दर उदाहरण है । यहाँ शून्य से एक तक पहुँचने के दार्शनिक प्रयास को ओर एक से अनेक के रहस्य विकास को एक ही गाँठ में बाँधा गया है –

"तम आसीत्तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।

तुच्छये नाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् ह्रदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥"[5] (ऋग्वेद, १०/१२९/३-४)

---

[3] "शुन्ध्यु विहग के श्वेत वक्ष-सी, उषा दिखाई देती है । नोधा-सी अभिलषित वस्तु को, प्रकटित करती रहती है । सोने वालों को गृहिणी-सी प्रातः जगा यह जाती है, आगामिनी उषाओं में यह, शश्वत्तमा सुहाती है ॥" (हिन्दी अनुवाद, मिश्र, हरिमोहन, वैदिक कविता, पटना: अनुपम प्रकाशन, पृ. ९४) ॥

[4] "गरजो, खूब कडको, गर्भधारण कराओ और उदन्वान् रथ पर चढ सभी ओर उड जाओ ; निर्बन्ध निम्नमुख मशक को खाली करो, ऊँची और नीची भूमि एक-सी ही दीख पडे ॥" (वहीं, पृ. ९४)

[5] "ढँका हुआ था तम से स्वयम् तम, सर्वत्र वन्या थी एकरूप, जो शून्य में था खोया भविष्यत् जगा वहीं अपनी उष्णता से । जगा उसे पहले काम जो था प्रथम मनोरेतस् निज ह्रदय में ढूँढा जबी कवियों ने सजग हो, अरूप में माया रूप तो तब ॥" (वहीं, पृ. ९५)

स्तुति-साहित्य की परम्परा की तरह ऋग्वेद से चिन्तन प्रधान दार्शनिक कविता की परम्परा चली, जो अपने सम्पूर्ण गौरव के साथ उपनिषदों में दिखलाई देती है।

ऋग्वेद में साम्य-विधान

काव्य-शिल्प में साम्य-विधान का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। साम्य-विधान सामान्यतः दो इकाइयों के मध्य ही होता है। एक इकाई प्रस्तुत (उपमेय/ वर्णनयोग्य) रहती है और दूसरी अप्रस्तुत (उपमेय)। प्रस्तुत को मानसिक सन्दर्भ के अनुकूल प्रेषणीय बनाने के लिए अप्रस्तुत की कल्पना की जाती है। अप्रस्तुत कल्पना का आधार है साम्य और उद्देश्य है बिम्ब-विधान। साम्य-विधान यदि अप्रस्तुत के साथ किसी प्रकार का बिम्ब नहीं खडा कर सके तो उसे उक्ति-प्रकार मात्र ही माना जा सकता है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत का निर्णायक सन्दर्भ ही होता है।

उषा कविता में उषा यदि प्रस्तुत है तो "जिस शोभन वसन-धारिणी पति के हेतु उपस्थित पत्नी-सी" वह दिखाई देती है वह अप्रस्तुत है। यम-यमी संवाद में यमी यदि प्रस्तुत है तो जिस लता की तरह उसे अन्य पुरुष से संश्लिष्ट होने को कहा जा रहा है वह अप्रस्तुत है। भाषा की दृष्टि से प्रस्तुत-अप्रस्तुत की इकाई कभी पद होती है तो कभी वाक्य। वाक्य के इकाई होने पर तो बिम्ब-निर्माण की अधिक सम्भावना रहती है, किन्तु पद के इकाई होने पर विशेषण आदि के योग से ही बिम्ब-निर्माण हो सकता है। ऋग्वेद में ऐसे स्थल है, जहाँ विशेषण अथवा क्रिया की सहायता से सुन्दर बिम्बों का निर्माण हो सका है। यथाहि,

- विशेषण के योग से बिम्ब-निर्माण) "नि ते नंसै पीप्यानेव योषा" (ऋग्वेद, ३/३३/१०) "शिशु को स्तन्य पिलाती माँ-सी झुक जायगी"[6]
- (क्रिया के द्वारा बिम्ब-निर्माण) "अकखलीकृत्य पितरं न पुत्रो" (ऋग्वेद, ७/१०३/३) "पुत्र-पिता-से आपस में मिलते-टर्राते रहे अनेक"[7]

---

[6] अनूदित (हरिमोहन मिश्र द्वारा) वैदिक कविता, पृ.११०।

ऋग्वेद की ऋचाएँ देवस्तुतियाँ हैं। देव ही प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्य हैं। इस कोटि के प्रस्तुत के लिए कोई भी अप्रस्तुत अपकृष्ट ही हो सकता है। किन्तु वैदिक कवियों के सामने अप्रस्तुत अर्थात् उपमान के उत्कृष्ट-अपकृष्ट होने का कोई महत्त्व नहीं है। उनके लिए यदि किसी बात का महत्त्व है तो वह है उपमान की उपयुक्तता का। कुत्स ने रुद्र को आकाश का लाल सूअर कहा है।[8]

ऋग्वेद का व्यवस्थित भाष्य प्रस्तुत करने वाले भाष्यकारों में सर्वाधिक प्राचीन भाष्यकार यास्क ने (निरुक्तम्, ३/१४) उत्कृष्ट गुण वाले और अनुत्कृष्ट गुण वाले दोनों प्रकार के उपमानों को समान भाव से स्वीकार किया है और द्वितीय प्रकार वाले उपमान के लिए त्रित आप्त्य की एक ऋक् उदाहृत की हैं, जिसमें जिसमें जानी की बाजी लगाकर पथिकों को लूटने वाले जंगली डाकुओं से अग्नि-मन्थन करने वाली बाँहों की उपमा दी गई है।[9] सूअर और डाकू दोनों सभ्य समाज में कुत्सित उपमान मानें जा सकते हैं, किन्तु यास्काचार्य ने डाकू को ऐसा नहीं माना है और कुत्सित उपमानों की चर्चा करते हुए कुत्ते और कौए का नाम लिया है ।[10] निश्चित रूप से यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि ऋग्वैदिक संस्कृति के आदि-काल में लोक-जीवन का सजीव दृश्य मनस्पटल पर उतकेरने वाले कुत्तें कुत्सित माने जाते थे । सरमा को इन्द्र की दूती होने का गौरव था । सूर्य को देखते रहने के लिए यम के दोनों श्वानों की स्तुति ऋग्वेद में की गई है ।[11] यजुर्वेद में भी रुद्र को "श्वपति" अर्थात् कुत्तों का स्वामी कहा गया है ।[12] अतः ऋग्वेद में लोक-जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेकों वर्णन साम्य-विधान में

---

[7] वहीं

[8] ऋक्, १/११४/५

[9] ऋक्, १०/०४/०६

[10] निरुक्तम्, ३/१८

[11] ऋक्, १०/१४/१२

[12] शु.यजु., १६/२८

चिह्नित किए जा सकते हैं। यथाहि, एक कवि के अनुसार अग्नि पके हुए जौं के खेत की तरह है।[13] मधुप्रेमी अश्विन् की मधुमक्खियों से उपमा बहुत ही उपयुक्त है।[14]

पक्षियों में ऋग्वैदिक कवियों का प्रसिद्ध उपमान है श्येन। अग्नि, सूर्य और सविता आदि का यह उपमान रहा है। परवर्ती साहित्य का प्रिय उपमान चक्रवाक-मिथुन अरुणोदय में आने वाले अश्वि-द्वय के उपमान रूप में आया है।[15] जलस्थित हंस भी अग्नि का उपमान होकर प्रयुक्त हुआ है।[16] जलचरों में से टर्र्-टर्र् करते रहने वाले मेंढकों को वेद-पाठी ब्राह्मणों का उपमान बनाया गया है।[17] वन्य पशुओं में प्रसिद्ध उपमान है सिंह। जहाँ कहीं शौर्य-वीर्य का वर्णन आया है वहीं इस भयानक पशु (भीममृग) का स्मरण किया गया है। ग्राम्य पशुओं में यहीं स्थान वृषभ (साँढ) को प्राप्त है।[18]

मानव-समाज से भी नाना प्रकार के उपमान चुने गये हैं। विभिन्न पेशों में रहने वाले लोग विभिन्न उपमानों का रूप धारण करके आये हैं। अत्रि ने वधिक से वरुण की उपमा दी है।[19] एक कवि ने अग्नि के लिए नाई को उपमान चुना है- "जैसे नाई दाढी मूडता है वैसे हे अग्नि ! तुम अनुकूल बात मिलने पर पृथिवी को मूडते हो"।[20] व्यर्थ बातें गढते रहने वालों की उपमा व्यर्थ सूत कातने वाली मूढ कुविन्द-कन्याओं से दी गई है।[21]

---

[13] ऋक्, १/६२/२

[14] ऋक्, १०/१०६/१०

[15] ऋक्, २/३९/३

[16] ऋक्, १/६५/९

[17] ऋक्, ७/१०३/५

[18] ऋक्, १/१४०/६

[19] ऋक्, ५/८५/१

[20] ऋक्, १०/१४२/४

[21] ऋक्, १०/७१/९

पारिवारिक सम्बन्ध सूचक उपमान भी ऋग्वेद में आये हैं। घोषा ने अश्विन् की उपमा उस देवर से दी है जिसके पास रति-अभिलाषिणी विधवा भाभी आती है।[22] उषा-कविता में उषा की उपमा स्वयम् वर ढूँढने वाली भ्रातृहीन कन्या से दी हई है।[23]

सामाजिक जीवन से प्राप्त अनुभवों के आधार पर कई सुन्दर उपमानों की सृष्टि हुई है। एक कवि ने कहा है – "आँधी के पीछे वृष्टि उसी प्रकार दौडती है जिस प्रकार मेले की ओर तरुणी स्त्रियाँ"।[24] विश्वामित्र इन्द्र से उसी प्रकार धन की वर्षा करने को कहते हैं जिस प्रकार कोई व्यक्ति अंकुश से वृक्ष को हिला-हिला कर पके फलों को नीचे गिराता है।[25] एकत्र कवि ने तितउ (छलनी) से छने हुए सत्तू से परिष्कृत वाणी की उपमा दी है।[26]

ऋग्वेदीय उक्ति-प्रकार अभिव्यक्ति का मानवीकरण

सामान्यतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि थोडा-बहुत कवित्व मनुष्य-मात्र में विद्यमान रहता है। यहीं कारण है कि विविध उक्ति-प्रकार किसी भी लोक-व्यवहृत भाषा में स्वतः उद्भूत होते रहते हैं। विद्वज्जनों के मतानुसार भावों को प्रेषणीय बनाने के लिए ही उक्ति-प्रकारों का जन्म होता है। किन्तु यह केवल साहित्य में ही नहीं होता, प्रत्यक्ष जीवन में भी जाने-अनजाने सर्वदा घटित होता रहता है। अतः किसी भी साहित्य में उक्ति-प्रकार की समीक्षा तत्साहित्य का लोक-धर्मी परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में समीक्षा का प्रमुख घटक कहा जा सकता है।

---

[22] ऋक्, १०/४०/२

[23] ऋक्, १/१२४/७

[24] ऋक्, १०/१६८/२

[25] ऋक्, ३/४५/४

[26] ऋक्, १०/७१/२

उक्ति-प्रकारों में कौन प्राचीन है और कौन अर्वाचीन यह निर्णय अन्य शास्त्रों पर आधृत विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है। ऋग्वेदीय उक्तियों के एक बहुत बडे प्रकार के विकास में मानवीकरण की प्रवृत्ति काम करती दिखाई देती है। ध्यातव्य है कि ऐसे ऋग्वेदीय स्थलों पर अग्नि, वायु आदि भौतिक / दैवीय शक्तियों का मानवीकरण अभिप्रेत नहीं है, किन्तु किसी तथ्य की अभिव्यक्ति-विशेष दर्शनीय है। ऐसे स्थल इस सिद्धान्त के ज्ञापक है कि वैदिक साहित्य भी प्रत्यक्ष जीवन में जाने-अनजाने घटित होने वाले भाषीय व्यवहार से सर्वदा अछूत नहीं है।

सोम को परिष्कृत करने वाली दस उँगलियों को दस योषाएँ कहना इसी प्रकार की उक्ति है।[27] इसी प्रकार इषुधि (तरकस) को बहुत-से बाणों का पिता कहना और बहुत-से बाणों को उसका पुत्र कहना अभिव्यक्ति का मानवीकरण मात्र है।[28] इसी प्रसङ्ग में उक्ति प्रकारों में अत्युक्ति भी द्रष्टव्य है। बाल-बुद्धि अत्युक्ति की जैसी सृष्टि करती है और जिस नाटकीय ढंग से उसे सुनाया जाता ह, वह प्रायः सर्वानुभव-गम्य है। "इन्द्र का वज्र ९० नदियों के बराबर विस्तृत है"[29] – वैदिक-साहित्य में बालसुलभ अत्युक्तिप्रियता का ही उदाहरण हो सकता है। इसी प्रकार "इन्द्र ने जब पृथिवी और आकाश को पकडा तो वें दोनों उसकी मुट्ठी में ही आ गए"।[30]

दृष्टान्त और तत्सजातीय उक्तियों का भी लोक-व्यवहार में कम महत्त्व नहीं है। भिक्षु की इस उक्ति में धन की अस्थिरता की बात कहकर दान का समर्थन किया गया है, यथाहि – "धनवान्, याचकों को अवश्य दें। (वें सुकृत के) दीर्घ पथ को प्राप्त करेंगे। रथ के चक्र की तरह धन कभी किसी

---

[27] ऋक्, ९/१/७

[28] ऋक्, ६/७५/५

[29] ऋक्, १/८०/८

[30] ऋक्, ३/३०/५

के पास तो कभी किसी के पास जाता रहता है"।[31] वाक्य-विन्यास की दृष्टि से विचार करने पर उक्ति-प्रकार के दो स्थूल भेद लक्षित होते हैं। एक तो वह है जहाँ उक्ति-वैशिष्ट्य समग्र उक्त्यर्थ पर निर्भर करता है और दूसरा वह है जहाँ उक्ति-वैशिष्ट्य किसी एक शब्द के अर्थ पर निर्भर करता है। आजकल का एक सुप्रचलित उदाहरण है – "उसने १६ वसन्त देखे हैं"। यहाँ अङ्ग से अङ्गी का बोध होता है। इसी प्रकार की एक उक्ति ऋग्वेद की है–

"उन्नति करते हुए सौ शरद् तक, सौ हेमन्त तक और सौ वसन्त तक जीते रहो"।[32]

ऋग्वेदीय वाक्य-विन्यास

मात्र पौर्वापर्य-विपर्यय, आवृत्ति और वाक्य के प्रकार-भेद आदि के द्वारा वाक्यों को साधारण से कुछ भिन्न बनाने का प्रयास लोक-व्यवहार में देखा जाता है।ऋग्वेद में इसके अनेकों उदाहरण उपलब्ध हैं। इन उदाहरणों में कहीं तो छन्द का अनुरोध लक्षित होता है और कहीं अर्थ की विशिष्टता का अनुरोध। अर्थ के अनुरोध से जो विशेष प्रकार के वाक्य-संघटन हुए हैं उन्हीं का विवेचन यहाँ अपेक्षित है।

ऋग्वेद छन्दोमयी साहित्यिक कृति है। अतः छन्द मात्र काव्यसर्जन के लिए वहाँ उपयोगी नहीं है, अपितु विशेष प्रकार के वाक्य-विन्यास का गहरा सम्बन्ध अर्थ के साथ है। छन्दोज्ञान के विना कवि के वास्तविक अभिप्राय तक पहुँचना प्रायः असम्भव है।

उपर्युक्त धारणा के समुचित अधिगमन हेतु वर्तमान में उपलब्ध लौकिक काव्य वाङ्मय को दों विभागों में बाँटकर आलोचित किया जाना अपेक्षित है। प्रथम विभाग में उन काव्यों की गणना की जाएगी, जिनके रचनाकाल में संस्कृत लौकिक व्यावहारिक भाषा थी और दूसरे विभाग में

---

[31]"पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् , द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम् ।....."ऋक्, १०/११७/५

[32] "शतं जीव शरदो वर्धमानः....." ऋक्,१०/१६१/४

उन काव्यों का समावेश होगा, जिनके रचनाकाल में संस्कृत लोक-व्यवहार की भाषा नही रही थी। वह केवल शास्त्रीय भाषा बन गई थी। इस दृष्टि से प्रथम विभाग में रामायण और महाभारत का ही समावेश होगा। इनके अतिरिक्त अन्य समस्त उपलब्ध काव्य ग्रन्थ दूसरे विभाग में समाविष्ट होंगे। रामायण,महाभारत के अतिरिक्त वें समस्त आर्ष शास्त्र जो छन्दोबद्ध हैं तथा वायु आदि पुराणों के प्राचीनतम अंश, इनका समावेश भी प्रथम विभाग में ही स्वीकार्य है।[33]

वक्ता भाषा का प्रयोग अपने अभिप्राय को श्रोता के प्रति यथार्थ रूप में प्रकट करने के लिए करता है। इसलिए जो भाषा लोक की व्यावहारिक भाषा होती है, उसके द्वारा अपने अभिप्राय को व्यक्त करने वाला वक्ता पदावली का इस ढंग से प्रयोग करता है, जिससे उसका वास्तविक अभिप्राय श्रोता पर व्यक्त हो जाये। यथा – व्यावहारिक भाषा में "जा देवदत्त गाँव को" तथा "देवदत्त गाँव को जा" इत्यादि वाक्यों में पदक्रम-भेद से व्यक्त होने वाले सूक्ष्म अर्थ-भेद की प्रतीति स्पष्ट है। उपर्युक्त नियम का महत्त्व उस भाषा में और भी अधिक वृद्धिगत हो जाता है (प्रस्तुत सन्दर्भ में वैदिक भाषा), जिसमें अतिसूक्ष्म अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए उदात्त आदि स्वरों का प्रयोग होता है और पदों में स्थान-परिवर्तन मात्र से उदात्तादि स्वरों की स्थिति बदल जाती है, इससे अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। इस सन्दर्भ में अधोलिखित मन्त्र दृष्टव्य है (ऋ., १/१४/२) –

---

[33] व्यावहारिक तथा मात्र शास्त्रीय भाषा में भेद : जो भाषा नैत्यिक व्यवहार के लिए लोक में व्यवहृत होती है, उसे व्यावहारिक भाषा कहते हैं तथा जो भाषा व्यवहार-दशा को छोडकर केवल ग्रन्थ-रचना तक सीमित रह जाती है, उसे शास्त्रीय भाषा कहा जाता है।

"आ त्वा कण्वा अहूषत, गृणन्ति विप्र ते धियः । देवेभिरग्न आ गहि॥"[34]

प्रस्तुत मन्त्र में प्रथम और तृतीय पाद की क्रियायें क्रमशः "अहूषत" (बुलाना अर्थक) तथा "आ गहि" (आगमन अर्थक) अनुदात्त है तथा द्वितीय पाद की क्रिया "गृणन्ति" (स्तुत्यर्थक) उदात्त है । अनुदात्त होने से उपर्युक्त क्रियायों का अर्थ गौण होगा और द्वितीय पाद के आरम्भ में श्रूयमाण क्रिया "गृणन्ति" के उदात्त होने से अर्थ प्रधान होगा । अतः ऋचा का अर्थ स्वीकार्य होगा (पादानुसारी पद्यात्मक अर्थ)- "सब ओर से तुझे कण्व लोग बुलाते है, स्तुति करते हैं हे विप्र ! तुम्हारी बुद्धियों की । देवों के साथ हे अग्ने! आओ ॥" इस मन्त्र में तीन क्रियायें हैं – बुलाना, स्तुति करना और आना । इन तीनों क्रियाओं में स्तुति करना मुख्य है । इसी के अधीन अग्नि को बुलाना और उसका आना सम्भव है । अतः यें दोनों क्रियायें "गृणन्ति" की दृष्टि से गौण हैं।

वैदिक भाषा में कर्ता और क्रिया के जो सामान्यतः निश्चित स्थान हैं, उनके विपर्यय से कभी-कभी उक्ति की दृढता स्पष्ट होती है , यथाहि –

"अहन्नहिमभिनद्रौहिणं व्यहन्व्यंसं मघवा शचीभिः"[35] (ऋ.,१/१०३/२)

---

[34] "इधर तुझको, मेधावी बुलाते हैं , प्रशंसा करते हैं, हे मेधावी ! तेरे कर्मों की । देवों के साथ, हे अग्नि !, इधर गमन कर तू ॥" (अनु.) जियालाल कम्बोज, दिल्ली: विद्यानिधि प्रकाशन (२००४)

[35] प्रस्तुत मन्त्र में कर्तृवाचक पद "मघवा" पादान्त में पठित है और वाक्य का आरम्भ "अहन्"क्रियापद से हो रहा है । तदुपरान्त "अहिम्"कर्मवाचक पद पढा गया है । यहीं क्रम "अभिनद् रौहिणम्" तथा "व्यहन् व्यंसम्" अग्रिम पठित वाक्यावयव में अनुकरणीय है ।

इसके अतिरिक्त वैदिक वाक्य-संघटना की (मन्त्रों की) निम्नलिखित विशेषताएँ हैं, जो वैदिक भाषा को लोक-भाषा के रूप में प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त अन्तः साक्ष्य हैं –

- संज्ञा (कर्तृपद) की आवृत्ति : "मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो , मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम् । मित्रः कृष्टीरनिमिषाभिचष्टे ॥"[36] (ऋ., ३/५९/१)
- क्रिया की आवृत्ति : "ह्वयाम्यग्निं प्रथमं स्वस्तये , ह्वयामि मित्रावरुणाविहावसे । ह्वयामि रात्रीं जगतो निवेशनीं ह्वयामि देवं सवितारमूतये ॥"[37] (ऋ.,१/३५/१)
- समानार्थक क्रिया-भेद के द्वारा अर्थावृत्ति : "अभिक्रन्द स्तनय" अर्थात् "गरजो, तडको" (ऋ., ५/८३/७)
- वाच्य-भेद के द्वारा अर्थावृत्ति : "जो जिनाति न जीयते" अर्थात् "जो जीतता है, जीता नहीं जाता है" (ऋ., ९/५५/४)
- काल-भेद के द्वारा अर्थावृत्ति : "उवासोषा उच्छाच्च" अर्थात् "उषा चमकती है और चमकती रहेगी" (ऋ., १/४८/३)

उपर्युक्त विवेचन से यहीं पुष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति में लोक को ही सारे शास्त्रों, कलाओं, विद्यायों और सांस्कृतिक उपलब्धियों का मूल स्त्रोत तथा आधार मानने की धारणा का सैद्धान्तिक उद्भव एवं प्रायोगिक पल्लवन भारतीय-काव्य-परम्परा के आदि स्त्रोत वैदिक कविता से ही हुआ है । इस धारणा को परवर्ती शास्त्रकारों ने सर्वदा पुष्ट किया है । स्थाने-

---

36 "मित्र जनों को प्रयत्नशील बनाता है, उपदेश करता हुआ । मित्र धारण कर रहा है, भूलोक को और द्युलोक को । मित्र प्रजाओं को बिना पलक झपके, सब ओर से देख रहा है । मित्र के लिए हव्यों को, घृत वालों को, प्रदान करो तुम ॥" (अनु.) जियालाल कम्बोज, दिल्ली: विद्यानिधि प्रकाशन (२००४).

37 पुकारता हूँ अग्नि को मुख्य को, शोभन अस्तित्व के लिए । पुकारता हूँ मित्र और वरुण को, यहाँ पालन के लिए । पुकारता हूँ रात्रि को, प्राणियों को विश्राम दिलाने वाली को । पुकारता हूँ दिव्य को सविता को, वृद्धि के लिए (अपनी)॥" (अनु.) जियालाल कम्बोज, दिल्ली: विद्यानिधि प्रकाशन (२००४).

स्थाने उनके वचन मिलते है कि हर शास्त्र लोक के लिए, लोक का आधार लेकर निर्मित होता है , तथा वह लोक का संस्कार – परिवर्धन-संवर्धन भी करता है । इस तरह लोक और शास्त्र एक-दूसरे को उपकृत करते है । इस वार्ता-सन्तान में भाषा के प्रति दार्शनिक दृष्टि की सुन्दर अभिव्यक्ति करने वाले महाभाष्यकार पतञ्जलि का भाषा से सम्बन्धित उद्धरण द्रष्टव्य है । महाभाष्यकार पतञ्जलि ने शास्त्र में प्रयोग किए जाने वाले उन शब्दों को अप्रामाणिक माना जो शब्द लोक-व्यवहार में प्रयुक्त नहीं किए जाते । यथाहि –

"सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ताः । तद्यथा – उष,तेर,चक्र, पेचेति । किमतो यत्सन्त्यप्रयुक्ताः ? प्रयोगाद्धि भवाञ्शब्दानां साधुत्वमध्यवस्यति। य इदानीमप्रयुक्ता नामी साधवः स्युः ॥" (पस्पशाह्निकम्)

द्वितीयाध्याय

वैदिक मन्त्र तथा आधिभौतिक व्याख्या-पद्धति

1830 ई. में "फ्रीड्रिक रोजन" द्वारा ऋग्वेद के प्रथम प्रकाशन एवं संस्कृत-भिन्न भाषा में प्रथम अनुवाद[1] (लैटिन भाषा में अनुवाद) के साथ ही वेद के विषय में प्रचलित परम्परागत विचारों से हटकर वेद की विषयवस्तु एवं अभिप्राय प्रकाशन का उपक्रम प्रारम्भ हुआ। विभिन्न विचारधाराओं से सम्बन्ध रखने वाले विद्वानों ने इस विषय में भिन्न-भिन्न अभिमत रखें| उनके अभिमतों को निम्न कोटियों में रखा जा सकता है-

(क.) वेद समाज के वर्ग विशेष तक ही सीमित होने से लोक-सामान्य को सहजतया प्रभावित करने में अक्षम था ? जैसा कि "मैक्सम्यूलर" ने कहा है-

> "The first objection then against our treating the Veda as an historical document is that it is not truly national in its character, does not represent the thoughts of the whole of the population of India, but only of a small minority, namely Brahmans, and not even of the whole class of

---

[1]Rigveda-Sanhita, LIber primus, Sanskrite et Latine (1838) (Ed. And Trans.) Fridericus August Rosen, Wm. H. Allen & co.: London.

Brahmans, but only of a small minority of them, namely of the professional Priests." [2]

(ख.) वैदिक वाङ्मय के मूल स्रोत वेद-संहिताएँ समाज के वर्ग विशेष तथा सामान्य वर्ग की धार्मिक मान्याताओं तथा कृत्यों का सङ्ग्रह मात्र हैं ? जैसा कि "आर.एन.दाण्डेकर" ने कहा है-

"This proto-Vedic religion can be thought of as having been made up of two main strands, namely, the religious beliefs and practices of the classes in the community and those of the masses. The activity of the composition of *Mantras* relating to both these religious strands, which presumably began in Balkh, was continued by the Vedic Aryans during their victorious march towards India, and also after they had settled down in the land of the seven rivers….they then occupied themselves was to collect, revise, arrange, and organize their heritage of stray and scattered Mantras. It was out of this activity of *samhitikarana* that the two great collections, namely, the

[2] Maxmullar, *India: What can it teach us?,* Munshiram manoharlal, Delhi (Indian edition), p. 77.

Rigveda samhita and the *Atharvaveda Samhita* emerged."[3]

इस स्थिति में भी लोक-संस्कृति की धारा में वेद का प्रभाव नगण्य ही लक्षित होता है।

(ग.) जे.गोंडा प्रभृति विचारकों के अनुसार, सभी वैदिक शब्दों की मूल भावना जादू और धर्म से मिश्रित है। वैदिक संस्कृति में प्रचलित उत्सव भी शक्ति उत्पन्न करने अथवा जादू और कर्मकाण्ड द्वारा प्रकृति की जीवन्त शक्तियों को प्रेरित करने का उपाय है।

(क.) वेद उच्च कोटि के दार्शनिक विचारों एवं आध्यात्मिक अनुभवों का कोष है,जैसा कि "श्री अरविन्द" ने कहा है-

> "वेद प्राचीन काल में ज्ञान की एक पवित्र पुस्तक के रूप में आदृत था, यह अंतःस्फुरित कविता का एक विशाल संग्रह माना जाता था,उन "ऋषियों"की-द्रष्टाओं तथा संतों की-कृति माना जाता था जिन्होंने अपने मन द्वारा कुछ घडकर बनाने की जगह एक महान्, व्यापक,शाश्वत तथा अपौरुषेय सत्य को अपने आलोकित मनों के अंदर ग्रहण किया और उसे "मन्त्रों" में मूर्त्त किया।"[4]

इस स्थिति में भी वेद का सम्बन्ध साधारण जन-जीवन से न जुड कर मात्र किसी योगी या साधक के साथ ही जुडता है।

(ख.) सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द ने वैदिक मन्त्रों का सामाजिक अभिप्राय भी प्रस्तुत किया। उनके अनुसार वैदिक मन्त्रों का प्रयोजन उत्कृष्ट समाज के निर्माण में दशा एवं दिशा निर्देश करना है।परन्तु उनके द्वारा भी

---

[3] Dandekar, R.N., *Some Aspects of the History of Hinduism*, University of Poona, Poona, p.33-34.

[4] श्री अरविन्द, अभयदेव(अनु.),वेद-रहस्य (पूर्वार्द्ध), श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी, पृ.१.

वैदिक मन्त्रों में लोक-संस्कृति, लोक-समाज एवं समाज के सामान्य वर्ग की उपस्थिति नहीं दर्शाई गई।

विचारकों के उक्त अभिमतों से यह प्रश्न सहज उपस्थित हो उठता है कि **वैदिक भाषा, दर्शन एवं संस्कृति में तत्कालीन समाज के प्रत्येक वर्ग का प्रतिनिधित्व झलकता है या नहीं ? परन्तु एक तथ्य भी सहज ही उपस्थित हो उठता है कि किसी भी प्रसिद्ध एवं चिर-स्थायी साहित्य की नींव लोक-संस्कृति की भूमि पर ही पडती है।**

इस समस्या का आंशिक समाधान वेद के प्रामाणिक भाष्यकार यास्क की उस सहजोक्ति में देखा जा सकता है यहाँ वे वैदिक भाषा को लोक-व्यवहार की भाषा ही कहते है । यथाहि, (*निरुक्तम्, १/२*) "***तेषां मनुष्यवद् देवताऽभिधानम्***" <"**उन शब्दों का मनुष्यों की तरह देवताओं में प्रयोग होता है**">।" वैदिक कवियों द्वारा अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए लौकिक भाषा को ही चुनना वेद में लोक-संस्कृति के तत्त्व होने में एक प्रमाण है। वैदिक वाङ्मय में लोक-सामान्य की शब्दावली का रेखाङ्कन वैदिक-चिन्तन धारा को लोक से सर्वथा अव्यापृत (अपृथक् मात्र ही नहीं बल्कि तद्रूपा ही) सिद्ध करता है । समाज के सामान्य एवं अति सामान्य वर्ग के, ग्रामीण एवं खेत-खेलिहानों के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों के सन्दर्भों को इस दिशा में रेखाङ्कित किया जा सकता है । जैसे कि -

- **वेपस् / विष्ट्वी** : अत्यन्त शारीरिक श्रम-साध्य अतः अधिकतर मजदूरों (कर्मकरों) द्वारा अपनाए गए कार्य के लिए वेद में "वेपस्" तथा "विष्ट्वी" (निघण्टु, कर्म-नामप्रसङ्ग(२/१)) शब्द प्रसिद्ध है ;

- **तस्थुस् :** जीवन युद्ध में परास्त होकर एक स्थान से दूसरे स्थान में विस्थापित होते रहने से मनुष्य-मात्र के लिए ही वेद में "तस्थुस्" (निघण्टु, मनुष्य-नामप्रसङ्ग (२/३)) शब्द प्रसिद्ध है;
- **वनर्गुः :** वन-मार्गों से जाने वाले पथिकों को लूट लेने वाले के लिए "वनर्गुः" शब्द (निघण्टु, स्तेन-नामप्रसङ्ग (३/२४)) प्रसिद्ध है;
- **तक्वाः :** डकैती करने वालों के लिए "तक्वाः" (निघण्टु, स्तेन-नामप्रसङ्ग (३/२४)) शब्द प्रसिद्ध है।

इसी प्रकार वेद में कुँओं की विभिन्न-विभिन्न संरचना के आधार पर कुँए के अनेकों नाम प्रसिद्ध है। इसी सन्दर्भ में छज्जे से सत्तु को छानने का सजीव वर्णन (ऋग्वेद,१०/७१/२) भी द्रष्टव्य है । लौकिक शैली के अनुरूप ही मुहावरों में विशिष्ट अभिव्यक्त मन्त्रों के लोकोक्ति स्वभाव को प्रकट करती है, जैसे कि **"किं भ्राता सद्यदनाथं भवति, किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निरगच्छत" (ऋग्वेदः, १०/१०/११) <**वह भाई कैसा जिसके होते हुए बहन अनाथ रहे और वह बहन कैसी जिसके होते हुए भाई के दुख दूर न हो सके**>; "नावाजिनं वाजिना हासयन्ति, न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति" (ऋग्वेदः, ३/५३/२३) <**(बुद्धिमान् लोग) अश्व-भिन्न को अश्व से नहीं लडाया करते तथा गधे को अश्व के सामने (उसके मुकाबिले पर) नहीं लाया करते।**>"**) आदि।

इस प्रकार वैदिक कवि एक तरफ तो परमतत्त्व तथा जागतिक शक्तियों की सटीक अभिव्यक्ति के लिए सार्थक एवं परस्पर सम्बद्ध पदावली का चयन कर पाएँ और वहीं दूसरी तरफ इस सार्थक अभिव्यक्ति में लोक-भाषा के तत्त्वों को भी उसी अनुपात में सन्नियोजित कर पाएँ । राज-द्वारों

से दूर अशिक्षित,ग्राम्य,साधारण, खेत-खलिहानों, मेहनत-मजदूरी से जुटा हुआ जीवन जीने वाले सामान्य जन-जीवन (दलित वर्ग) के भाषिक तत्त्व भी वैदिक क्लेवर हैं ?

"ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः" का तात्पर्य

ऋग्वेद ऋचाओं का समुच्चय है । ऋक् शब्द का अर्थ है – जिससे स्तुति की जाए ।[5]

ऋषियों के "मन्त्रद्रष्टा होने का भाव" दो पक्षों से परम्परा द्वारा व्याख्यात किया जाता है -

(१.) साधना एवं समाधि द्वारा अन्तश्चेतना में शब्द ब्रह्म का साक्षात्कार कर ऋषियों ने मन्त्रों के अर्थ प्रकाशित करें । ऋषियों ने मन्त्रों को रचा नहीं अपितु उनका साक्षात्कार किया है । साक्षात्कार करने के लिए आवश्यक है कि जिसका साक्षात्कार किया जा रहा है वह साक्षात्कार करने वाले से पहले ही विद्यमान हो । पूर्व विद्यमान मन्त्र ही ऋषियों की अन्तश्चेतना में विशेष तात्पर्य के साथ प्रादुर्भूत हुए । तैत्तिरीय संहिता (३/१/९) , मैत्रायणी संहिता (१/५/८) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (५/१४) में प्राप्त होने वाली "नाभानेदिष्ठ" की कथा इस मत को पुष्ट करती है । कथा के अनुसार, पिता की आज्ञा से मनु-पुत्रों ने पिता की सम्पत्ति बांट ली । उनका कनिष्ठ भ्राता नाभानेदिष्ठ अभी ब्रह्मचर्य वास कर रहा था । घर लौटकर उसने पिता से अपना भाग मांगा । अन्य द्रव्यवस्तु के अभाव में पिता ने दो सूक्त और एक ब्राह्मण दिए । ये ऋग्वेद के दशम मण्डल के सुप्रसिद्ध सूक्त "६१"वां और "६२"वां हैं । स्पष्ट है कि ऋग्वेद के दशम मण्डल के दोनों सूक्त मनु को ज्ञात थे । उसी ने ये सूक्त अपने पुत्र को दिए । ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी में कात्यायन लिखता है – "इदमित्था सप्ताधिका नाभानेदिष्ठो मानवो वैश्वदेवं

---

[5] निरुक्तम्, १३/७

तत" (१०/६१)। अर्थात् "इदमित्था"प्रतीक वाले ६१वें सूक्त का नाभानेदिष्ठ ऋषि है। यद्यपि नाभानेदिष्ठ इन दोनों सूक्तों का ऋषि है और ६१वें सूक्त के १८वें मन्त्र में उसका नाम भी आता है, तथापि वह इन सूक्तों का निर्माता भी नहीं है और न ही नाभानेदिष्ठ के द्वारा साक्षात्कार करने के उपरान्त ही यें सूक्त प्रकाश में आएँ। ये सूक्त तो उससे पहले भी विद्यमान थे।

ऋग्वेद के अनेक ऐसे सूक्त हैं जिनके दो,तीन अथवा चार ऋषि हैं। क्या प्रत्येक ऋषि ने एक समान सूक्त बनाए ? सब ऋषि मन्त्रार्थ देखने वाले तो माने जा सकते हैं, परन्तु मन्त्र बनाने वाले अथवा नियत आनुपूर्वी वाले समान मन्त्र देखने वाले नहीं। शास्त्रों में अनेकत्र ऋषियों को मन्त्रार्थ-द्रष्टा कहा गया है। यथाहि – "य एवाप्ताः वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च" (न्यायदर्शनम्, २/२/६७) अर्थात्, वें ही आप्त है जो वेदमन्त्रों के अर्थद्रष्टा और उनके प्रवचनकर्ता है।

(२.) द्वितीय पक्ष में मन्त्रार्थद्रष्टा से अभिप्राय मन्त्र में निहित तत्त्व के प्रत्यक्षरूप से साक्षात्कार करने से है। उसी साक्षात्कृतधर्मा ऋषि ने जब उस दृष्ट तत्त्व को निश्चित आनुपूर्वी के साथ ऋक्, यजुष् या साम के रूप में शब्दात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की तब वहीं उस ऋक्, यजुष् या सामरूप मन्त्र का रचयिता कहलाया। इस प्रकार एक ही ऋषि में द्रष्टृत्व और कर्तृत्व दोनों हैं। ऋचायें भावुक कवियों के ह्रदय से निर्बन्ध और वेग से स्फुरित अनुभूतियाँ हैं।साम मन्त्रों के विषय में यह भी देखा जाता है कि जिस मन्त्र तत्त्व का ऋषि ने दर्शन किया और उसकी ऋग्रूप में अभिव्यक्ति की, उसी ऋक् पर किसी अन्य ऋषि ने सामगान किया और वह ऋषि उस साम का द्रष्टा और कर्ता मान लिया गया। वह द्रष्टा इस रूप में था कि उसने उस विशिष्ट स्वर की उस ऋक् में अनुभूति की और अनुभूति के बाद उसी रूप में उसकी अभिव्यक्ति की।

वैदिक मन्त्रों की आधिभौतिक व्याख्या

परम्परा में वेद की व्याख्या के तीन स्तर मानें गएँ हैं – आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। आधिभौतिक स्तर पर वैदिक सूक्तों की प्रकृति लोकगीतों याँ लोक-काव्य के बहुत निकट है । लोक-साहित्य का बिम्ब विधान यहाँ मौजूद है। सोमसूक्तों में उलूखल या सोम पीसने का पत्थर या इस प्रकार की अन्य वस्तुएँ यौन प्रतीकों के रूप में यहाँ व्यवहृत है , जिस प्रकार लोकगीतों में सिल-बट्टा आदि का उल्लेख यौन-प्रतीक के रूप में होता है। इस दृष्टि से ऋग्वेद का सूक्त ९/११२ पठनीय है। इस सूक्त की लय लोकगीत के समान है। "इन्द्रोयेन्द्रो परिस्रव" यह पङ्क्ति इस सूक्त के हर मन्त्र में ध्रुवक (स्थायी) की तरह दोहराई गई है । डॉ. रामजी उपाध्याय जैसे विद्वानों का अनुमान है कि यह सोम पीसने वाले मजदूरों का गीत है।[6] इसी तरह सीता (हल की फाल) को सम्बोधित या कृषि की अधिष्ठात्री देवी के लिए अर्पित ऋग्वेद का एक ओर सूक्त ४/५७ किसानों के द्वारा गाया जाने वाला सूक्त प्रतीत होता है । बार्हस्पत्य भारद्वाज के इन्द्रविषयक सूक्तों में इन्द्र का एक अर्थ वृषभ या गायों का अधिष्ठाता भी है। इन्द्र का सीधा सम्बन्ध यहाँ खेती से है। खेती के लिए वेद में "कृष्टि" शब्द का प्रयोग है, जो "कृष्" धातु से बना है, इसी से "कृषक" शब्द निष्पन्न किया जाता है। "कृष्टि" से वैदिक वाङ्मय में आधिभौतिक स्तर पर एक तरफ यहाँ खेती-किसानी का आशय सूचित होता है, तो दूसरी तरफ प्रस्तुत शब्द समग्र सांस्कृतिक वैशिष्ट्य का भी द्योतक है। यहाँ खेत की धरती और किसानी ही जीवन का आधार हो, वहाँ "कृष्टि" शब्द का अर्थ-विस्तार होना स्वाभाविक ही है। सुहोत्र भारद्वाज इन्द्र से कृष्टि का संवर्धन करने की प्रार्थना करते हुए कहता है –

अभूरेको रयिपते रयीणामा हस्तयोरधिथा इन्द्र कृष्टीः ।

---

[6] उपाध्याय, रामजी, संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (खण्ड १), इलाहाबाद : रामनारायण बेनी माधव , पृ., १७

वि तोके अप्सु तनये च सूरेऽवोचन्त चर्षणयो विवाचः॥ [7] (ऋग्वेद ६/३१/१)

वैदिक देवमंडल में इन्द्र सर्वाधिक महिमामय देव माना जाता है। इस इन्द्र को वैदिक कवियों ने वृषभ की संज्ञा बार-बार दी है, तथा उसकी माता को गाय कहा है –

"गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागामनाधृष्यं वृषभं तुभ्रामिन्द्रम् ।
अरीळहं वत्सं चरताथ माता स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम् ॥"
(ऋग्वेद, ४/१८/१०)

तथा,

"वृषायमाणो अवृणीत सोमम् " (ऋग्वेद १/३२/३ अथर्ववेद २/५/७, तैत्तिरीयब्राह्मण २/५/४/२)

(माता रूपी युवती गाय ने उस इन्द्र रूपी वृषभ को जना है, जो बलवान्, युद्ध में अविजेय तथा प्रतिरोध में भयंकर है। इस माता ने स्वयं अपना मार्ग चुनने को तत्पर इस बछड़े को चाट चाट कर साफ ही नहीं किया, उसे स्वेच्छा से घूमने के लिये खुला छोड़ दिया है । साँड बनते हुए इन्द ने सोम का वरण किया)

वैदिक काव्य के उदात्त जीवनमूल्य गहन चिन्तन तथा अध्यात्म एक कृषिप्रधान समाज में खेत–खलिहान की धरती पर ही टिके हुए हैं। इस काव्य में प्रायः सारा अप्रस्तुत विधान वन- ग्राम, देहात, खेत या जंगल के पर्यावरण से आता है। ऋग्वेद के ढेरों मंत्र गायों के रंभाने की प्रतिध्वनि से गुंजित हैं । यजमान देवता को पुकारता है जैसे गाय रंभाती है । (ऋग्वेद, १/३८/२) पर्वत की गोद से निकल कर समुद्र की ओर अभिसरण करती

---

[7] "है तू अकेला, हे धनों के स्वामी !, (स्वामी) धनों का । सब ओर से हाथों में धारण करता है तू, हे इन्द्र ! प्रजाओं को । विविधतया पुत्र के निमित्त, जलों के निमित्त, पौत्र और सूर्य के निमित्त । बोलते हैं प्रजाजन, विविध वाणियों को (तेरे लिए) ॥" (अनु.) जियालाल कम्बोज, दिल्ली: विद्यानिधि प्रकाशन (२००४).

खुली लगाम वाली घोडियों की तरह भागती हुई दों सफेद गायों जैसी विपाट् और शतद्रु तेजी से बहती हुई कवि को दिखती है –

"प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने ।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्शुतुद्री पयासा जवेते ॥" (ऋग्वेद, ३/३३/१)

गाय को भी माता कहा गया है । नदी को भी माता कहा गया है । विश्वामित्र कहतें हैं कि मैं अपनी नदी माता शतद्रु के पास तथा चोटे पाट वाली सबसी बडी माता सुन्दर विपाशा के पास आया हूँ । बछडे को चाटती दों सुन्दर गऊ माताओं की तरह यें दोनों एक लक्ष्य की ओर बढ रही हैं –

"अच्छा सिन्धुं मातृमतामयासं विपाशमुर्वीं सुभगामगन्म ।
वत्समिव मातरा संररिहाणे समानं योनिमनुसंचरन्ती ॥" (ऋग्वेद, ३/३३/३)

वैदिक कवियों के लिए बिजली रंभाती हुई गाय की तरह कडकती है। बिजली पानी बरसाते मरुतों का पीछा ऐसे करती है, जैसे गाय बछडे का।[8] प्रकृति के विराट् जगत् में चलते कार्यकलापों को गाय के रूपक के द्वारा प्रायः यें कवि निरूपित करते हैं ।

ऋग्वेद में देव-स्तुति परक कविताओं में भी मानव से मानव के बीच प्यार तथा दुलार की, वैर तथा प्रतिशोध की बातें मार्मिकता से अभिव्यक्त होती है । ऋग्वेद का कितव-सूक्त (१०/३४) लोक-जीवन की दृष्टि से रुचिकर जान पडता है । पासों का खेल कैसे उस वक्त में भी सामान्य गृहस्थ जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया करता था इसकी अभिव्यक्ति इस सूक्त में उत्तम पुरुष के दुःख और पश्चाताप से होती है । बरसात में मेंढकों का

---

[8] "वाश्रेव विद्युम्मिमाति । वत्सं न माता सिषधित । यदेषां दृष्टिरसर्जि ॥" (ऋग्वेद, १/३८/८)

टर्राना गाय और बछडों के मिलकर रंभाने जैसा है। [9] इन कवियों के लिए सारी दुनिया ही गोव्रज या गाय का बाडा है, जिसे विष्णु ने खोला है। [10]

लोक-साहित्य या लोकगीतों में अभिव्यक्त पारिवारिक सम्बन्धों की रस गन्ध से भी वेदों के अनेक सूक्त सुवासित है। भाई-बहन, पति-पत्नी या माँ-बेटे के बीच के सहज सम्बन्धों को यहाँ चित्रित किया गया है। एक मन्त्र में कहा गया है – वह भाई कैसा जिसके होते हुए बहन अनाथ रहे और वह बहन कैसी जिसके होते हुए भाई के दुख दूर न हों सकें। [11] वामदेव गौतम कहते हैं कि बिन भाई की बहन विवाह के योग्य नहीं समझी जाती।[12]

सूर्या सूक्त, जो वैवाहिक कृत्यों का भी निरूपण करता है, विवाह के समय गाये जाने वाले लोकगीतों के भाव-बोध को सँजोये हुए हैं। नववधू के प्रति उसके परिजनों सगे-सम्बन्धियों के मनोभाव, उसकी विदाई के समय की स्थितियाँ- इन सबके चित्रण में भारतीय पारिवारिक जीवन की छवि इस सूक्त में उभरती है –

"गृहान् गच्छ गृहपत्निर्यथासौ " (ऋग्वेद, १०/८५/२६)

(जैसे विवाह के बाद लडकी घर (पति के पास) जाती है, ऐसे ही तुम भी जाओ।)

"इह प्रियं प्रजया ते समृद्ध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि" (वहीं, २७)

(यहाँ सन्तानों के साथ तुम्हारा प्रिय हो, गृहस्थी के लिए इस घर में जागती रहो॥)

लौकिक विषयों पर लिखी गई कविताओं में दान-स्तुति का भी स्थान है। दान-स्तुतियों में दानी राजाओं की दानशीलता का वर्णन मिलता है।

---

[9] "गवामह न मायुर्वत्सिनीनां मण्डूकानां वग्रुरत्रासमेति॥" (ऋग्वेद, ७/१०३/२)

[10] "व्रजं च विष्णुः सखि वां अपोर्णुते" (ऋग्वेद, १/१५६/४)

[11] "किं भ्राता सद्यदनाथं भवति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निरगच्छत॥" (ऋग्वेद, १०/१०/११)

[12] "अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः॥" (ऋग्वेद, ४/५/५)

वैदिक मन्त्रों पर समग्र दृष्टि से विचार करने पर मन्त्रों में लोक-जीवन एवं लोक-संस्कृति का बिम्ब-प्रतिबिम्ब प्रकाशित हो उठता है। एक ओर यहाँ वैदिक मन्त्र प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकरण द्वारा उनसे एकरूपता स्थापित करने के उदात्त भाव, धार्मिक कृत्यों तथा आचार-विचारों को अभिव्यक्त करता है , वहीं दूसरी ओर वही मन्त्र समाज के मध्यम, निम्न मध्यम तथा निम्न वर्ग के लोगों के जीवन को भी दर्शाता है। एक समूची जिन्दगी की तस्वीर भी झलकती है वैदिक मन्त्रों में-ग्राम्य-जीवन, खेत-खलिहान, घर-परिवार, एक-दूसरे को नसीहत देना, परस्पर कसमें खाना, काम-धंधों में लगे लोग, उनके साधन, किसान-मजदूर-हलवाहे- ये सब अपने परिवेश के साथ उपस्थित है यहाँ। कहने का भाव वेद की विषयवस्तु मात्र धार्मिक कृत्यादि नहीं है अपितु लोक का स्वभाव या सहज प्रकृत रूप भी उसी विषयवस्तु का दूसरा पहलू है। परन्तु ये दोनों पक्ष परस्पर गुँथे-हुए-से है। जटिल धार्मिक कृत्यों, आचार-व्यवहार के वर्णन के मध्य सामान्य वर्ग के स्वर को ढूँढने के लिए गहन शोध अपेक्षित है।

- लोक-साहित्य का सर्वाधिक प्राचीन अंश अभिचार साहित्य (जादू-टोने, घरेलू स्तर पर किए जाने वाले धार्मिक कृत्य आदि से सम्बन्धित साहित्य) रहा है। ऋग्वेद में बिखरे कुछ अभिचार-साहित्य को विषय की दृष्टि से कई भागों में विभक्त किया जा सकता है, जैसे, बादल बरसाने की धारणा से सम्बन्धित (मण्डूक-सूक्त), सौत की ओर से पति का मन खींचने की धारणा से सम्बन्धित (ऋग्वेद का दशम मण्डल का १४५ वाँ सूक्त), दुःस्वप्ननाश की धारणा से सम्बन्धित (ऋ. १०/१६४) आदि।

- लोक साहित्य का एक ओर अंग है, प्रहेलिका। ऋग्वेद में प्रहेलिकाएँ यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं । प्रहेलिका के अन्त में कहीं-कहीं "पण्डित होयसो भेद बतावै" की तरह की चुनौती भी रहती है। ऋग्वेद "१/३५/६" की एक प्रहेलिका है-

  "तीन स्वर्ग हैं। दो सविता की गोद हैं। मनुष्यों को जीतने वाला एक स्वर्ग यम के भुवन में है। देवगण (सवितृ पर) वैसे स्थित हैं जैसे मानो रथ की धुरी पर हों। जो यह भेद जानते हों वे यहाँ बोलें।" [13]

- लोक-साहित्य का तीसरा प्रमुख अंग "लोक-गीत" है। लोकगीतों की परम्परा का उत्स वेद में ढूँढा जा सकता है। ऋग्वेद के नवम मण्डल का ११२वाँ सूक्त "सोम-पान-मत्त" तरुणों का होली-गीत-सा ही जान पडता है। यह सूक्त "पङ्क्ति" छन्द में है और इसके प्रति पञ्चम पाद में "**इन्द्रायेन्द्रो परिस्रव**" की टेक भी है। ऐसा लगता है कि एक व्यक्ति आगे-आगे गा रहा है और अन्य लोग पञ्चम पाद भर दुहराते हैं।

- वैदिक मन्त्रों में अभिजात वर्गीय (यज्ञ, उच्च दार्शनिक तत्त्व, सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था आदि से सम्बन्ध रखने वाली) काव्य धारा के अतिरिक्त निम्न दों काव्य धाराओं का साक्षात्कार भी होता है- (१.) **सन्तों, परमहंसों या अवधूतों से सम्बद्ध काव्य धारा, जो अपनाती तो है लोक-जीवन के सहज स्वरूप को तथा उसके द्वारा साधती है विवेक को जागते हुए संसार की असारता को।**

---

13 "**तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वी उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट्। आणिं न रथ्यममृताधितस्थुर् इह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत्॥**"

वैदिक विद्वानों में इस धारा के कवि या वेद-भाष्यकार का विशेष सम्बोधन "परि-व्राजक" है। (२.) लोक-जीवन में रचे बसे कवियों की काव्य धारा, जिसमें स्वभावोक्ति और वस्तु-जगत् के यथार्थ का निरूपण अधिक महत्त्व रखते हैं।

(१.) प्रथम धारा के उदाहरण में ऋग्वेद १/१६४/३२वें मन्त्र [14] का भाव देखें (शास्त्री, शिवनारायण, *निरुक्त के पाँच अध्याय* , इंडोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी: १९७२,पृ.१९७) "**जो पिता गर्भाधान करता है, वह इसके तत्त्व को नहीं समझता। उससे इसका तत्त्व निगूढ ही है अर्थात् वह तो वासना-वश आधान कर देता है; उस गर्भ के जन्म से उसे स्वयं को तथा शिशु को संसार में आने के कारण कितने कष्ट उठाने पडेंगे, यह वह नहीं समझता। वह गर्भ भी कर्म-वश माँ के गर्भ में जेर से लिपटा पडा बार-बार जन्म ले कर जन्म-मरण के कष्ट को पाता है। पिता भी बहुत बच्चों के लालन-पालन की जिम्मेदारियों से कष्ट पाता है"**। प्रथम धारा के वैदिक मन्त्रों को कबीर, गुरुनानक, रविदास सरीके सन्त-महात्माओं की वाणी के समान देखा जाना चाहिएँ। प्रसिद्ध संस्कृतज्ञा गौरी धर्मपाल ने प्रकृत तथ्य को मुक्त कण्ठ से प्रतिपादित किया है (Dharmapaul, Gouri, *The Linguistic Atom and the origin of Language,* Ritam, Kolkata: 2010, p.43) -

---

[14] "**य ईं चकार,न सो अस्य वेद य ईं ददर्श,हिरुगिन्नु तस्मात्।स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निरृतिमाविवेश ॥**"

"The most marvellous thing to note is that a fair amount of the voluminous material of the inspired utterances of the *Rishis* agree, sometimes literally, with those of the mystics and poets of the modern world- Ramakrishna, Ramprasad, Robindronath, Aurobindo, Lalan, Jatindranath, Nazrul, Jivanananda, Dante, Browning, Blake and many others."

(२.) वैदिक मन्त्रों में दूसरी काव्य धारा का प्रवाह-

(२.१.) कहीं जुआरी को नसीहत देने वाले मन्त्र में ("**अक्षैर्मादीव्यः,कृषिमित् कृषस्व ,वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः। तत्र गावः कितवः, तत्र जाया ,तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥**" (ऋग्वेदः, १०/३४/१३) <कितवः=हे जुआरी ! तुम; अक्षैः=पासों से; मा=न; दीव्यः=खेल; इत्=इसके स्थान पर; कृषिं कृषस्व=कृषि को अपना; वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः=अपनी मेहनत से कमाए धन को ही सर्वोत्तम जानकर उसमें रमों; तत्र=उस कृषि व्यवसाय में; गावः=भरपूर पशु-धन (की सम्भावना है); तत्र जाया=उसी में पत्नी (का साथ भी निश्चित है); तन्मे=यह सब मुझे; वि चष्टे=विशेष रूप से बोध कराया है ; सवितायमर्यः=सबके प्रेरक ईश्वर ने>) ;

(२.२.) कहीं जाडें के दिनों में वस्त्र-विहीन निर्धन पुरुष के कातर-स्वर को शब्द देने वाले मन्त्र में ("**निष्ट्वक्त्रासश्चिदिन्नरो भूरि-तोका वृकादिव। बिभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिरं जीवनाय कम्**" (निरुक्तम्, १/१० से उद्धृत) <निष्ट्वक्त्रासः=वस्त्रों से रहित; भूरि-तोका=बहुत बच्चों वाले;

नरः=मनुष्य; हेमन्त से वैसे ही ;बिभ्यन्तः=डरते हुए; शिशिरं जीवनाय कम्= शिशिर को जीवन के लिए; ववाशिरे=पुकार उठते हैं जैसे; वृकादिव=भेडिये से डरते हुए (दूसरों को पुकारा जाता है)>) ;

(२.३.) धनुष की प्रत्यञ्चा (डोरी) की ध्वनि मात्र से ही मांस-भक्षी पक्षियों का मांस की चाह में उडान भरने के यथार्थ वर्णन में ("**वृक्षे-वृक्षे नियतामीमयद्,गौस्ततो वयः प्रपतान्पूरुषादः**" (ऋग्वेदः, १०/२७/२२) <वृक्षे-वृक्षे=हरेक धनुष में (प्रस्तुत मन्त्र में "वृक्ष" शब्द वृक्ष की लकडी से बने धनुष का वाचक है। शब्द का सम्बन्धित अर्थ में इस प्रकार की प्रवृत्ति को संस्कृत व्याकरण की भाषा में "तद्धित-वृत्ति" कहते है);नियता=बँधी हुई; मीमयत्=टन्टनाती है; गौः= डोरी; ततः=उससे; वयः पूरुषादः=मनुष्यों के भक्षक पक्षी; प्रपतान्=उडते है (मांस के अभिलाषी होकर>);

(२.४.) युद्ध भूमि में इन्द्र के बुलावे की तुलना कपडे तक उतार लेने वाले नामी-गरामी चोर को देखकर सहायता के लिए दूसरे व्यक्तियों के बुलावे से तथा गाँव में सामूहिक रूप से आयोजित बाज-प्रतियोगिता में बाज के बुलावे से करते हुए लोक में प्रचलित तथ्यों को अपनी अभिव्यक्ति के साधन के रूप में प्रयुक्त करने वाले मन्त्र में ("**उत स्मैनं वस्त्र-मथिं न , तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु । नीचायमानं जसुरिं न श्येनं, श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम् ॥**" (ऋग्वेदः, ४/३८/५)" <उत स्मैनं= और भी इस इन्द्र के प्रति; वस्त्रमथिं न तायुम्=वस्त्र तक चुरा लेने वाले चोर को देखकर जैसे (मनुष्य सहायता के लिए चिल्ला उठते है वैसे ही); अनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु= सङ्ग्राम में मनुष्य चिल्ला उठते है; (और भी) नीचायमानं=नीचे-

नीचे उडने वाले; जसुरिम्=पाके धागे से बन्धे हुए; श्येनं न=बाज को जैसे; श्रवश्चाच्छा=(खेल जीतकर)यश-प्रशंसा प्राप्त करने के लिए;पशुमच्च यूथम्=और (खेल जीतकर) भरपूर पशुधन पाने के लिए (बुलाते है)**>**);

(२.५.) **वर्षा ऋतु में मेंढकों की टरटर्राहट से उत्साही वैदिक कवि द्वारा मेंढकों के सजीव वर्णन में ("संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मंडूका अवादिषुः॥"** (ऋग्वेदः, ७/१०३/१) **<**बाह्मणाः=ब्रह्मनिष्ठ मनुष्यों की तरह; संवत्सरं शशयाना= मानों सारा साल बिल में रहकर कठोर तपस्या रूपी; व्रतचारिणः= व्रत का आचरण करने वाले; मंडूकाः=मेंढक (अभी); पर्जन्यजिन्वितां वाचम्=बादल बरसने से उत्साही वाणी को; प्र अवादिषुः= बोल रहे है।**>)-** सहजतया अनुभूत किया जा सकता है।

अध्याय तृतीय

ऋग्वेद : लौकिक साहित्य

ऋग्वेद में धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन ये दोनों ही विषय अत्यधिक चर्चा के विषय रहे हैं किन्तु लौकिक सामग्री का अध्ययन प्रायः उपेक्षित-सा रहा है, यद्यपि प्राचीन भारत और भारतीय इतिहास की पुस्तकों में भारतीयों के सामाजिक सङ्गठन का निरूपण किया गया है, किन्तु मात्र विहङ्गम दृष्टि से।

भारत के इतिहास में, वैदिक युग की संस्कृति का अपना अलग महत्त्व है। भारत के बहुसङ्ख्यक निवासी ऐसे सम्प्रदायों के अनुयायी हैं, जो अपने मन्तव्यों, दार्शनिक सिद्धान्तों, पूजा-पाठ की विधि और आचरण के नियमों आदि के लिए वेदों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं और उन्हें प्रमाण रूप में स्वीकार करते हैं। उत्तरकालीन पुराणों, महाकाव्यों और लौकिक साहित्य में वर्णित कतिपय विश्वासों, गीतों और प्रथाओं के बीज ऋग्वेद में मिलते हैं। जब इन विश्वासों और प्रथाओं का विस्तृत अध्ययन करना होता है तो उनका वैदिककालीन स्वरूप क्या था, वर्तमान से उनके स्वरूप में कितना परिवर्तन हुआ, इस सम्पूर्ण जानकारी और तुलनात्मक अध्ययन हेतु वैदिक वाङ्मय का सांस्कृतिक दृष्टि से विश्लेषण नितान्त महत्त्वपूर्ण है। यथा पृथ्वी को माता मानना और विभिन्न घरेलू प्रथाओं में उसके प्रति आदर भाव व्यक्त करने का मूल वेद का पृथ्वी-सूक्त ही है, यहाँ पृथ्वी को माता और "द्यौः" को पिता कहा गया है। पञ्जाब में यह प्रथा वर्तमान है कि जब कोई गाय या भैंस बच्चा देती है तब उसे दूहते समय दूध की पहली पाँच धार को पृथ्वी पर गिरा दिया जाता है। जब दूध के साथ दवा खाई जाती है उस समय दूध की दो-चार बूँदों को पृथ्वी पर गिरा देते हैं। इसी प्रकार मृत्यु के कुछ पहले बीमार व्यक्ति को जमीन पर सुला दिया जाता है जिसे भोजपुरी प्रदेश में "भुँइसेज" कहा जाता है। इस प्रकार घरेलू स्तर पर अप्रत्यक्ष रूप से पृथ्वी माता के प्रति आदर प्रदान करने की परम्परा लगभग

सम्पूर्ण भारत-वर्ष में व्याप्त है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति की मृत्यु के समय गाए जाने वाले गीतों का मूल भी वेद में ही मिलता है । ऋग्वेद (१०/१४/७-८) में प्रेत की आत्मा किस मार्ग से स्वर्ग को जायेगी , उसकी रक्षा के लिए कौन लोग रक्षक की भूमिका अदा करेंगे इसका बडा रोचक वर्णन किया गया है। यथाहि –

"प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥"

पुत्री की विदाई के अवसर पर गाये जाने वाले गवना के गीतों का भी मूल ऋग्वेद के सूर्या सूक्त में देखा जाता है । सूर्या सूक्त, जो वैवाहिक कृत्यों का भी निरुपण करता है, विवाह के समय गाये जाने वाले लोक-गीतों के भावबोध को सँजोये हुए हैं। नववधू के प्रति उसके परिजनों, सगे-सम्बन्धियों के मनोभाव, उसकी विदाई के समय की स्थितियाँ-इन सबके चित्रण में भारतीय पारिवारिक जीवन की छवि इस सूक्त में उभरती हैं । यथाहि –

"गृहान् गच्छ गृहपत्निर्यथासौ " (ऋग्वेद, १०/८५/२६)

(जैसे विवाह के बाद लडकी घर (पति के पास) जाती है, ऐसे ही तुम भी जाओ ।)

"इह प्रियं प्रजया ते समृद्ध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि" (वहीं, २७)

(यहाँ सन्तानों के साथ तुम्हारा प्रिय हो, गृहस्थी के लिए इस घर में जागती रहो ॥)

इन गीतों में करुण रस की मन्दाकिनी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित दिखाई पडती है। विवाह के गीतों में जहाँ आनन्द, उल्लास और उछाह का वर्णन है वहाँ गवना के गीतों में विषाद का भीषण तथा कारुणिक दृश्य दिखलाई पडता है । वैदिक कवि इस विषादात्मिका स्थिति को ऐसे

मङ्गलमय वातावरण में उद्भावित न करने की प्रेरणा सूक्त के अन्तिम मन्त्रों में ऐसे ही देता हुआ भाता है मानों कोई पिता स्वयं ही अपने आप को कन्या-वियोग के दुःख से उभरने की प्रेरणा दे रहा हो -

"जीवं रुदन्ति वि नयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः ।
वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनये परिष्वजे ॥" (अथर्ववेद, १४/१/४६)

(जो रो पडते हैं कर के हाहाकार , वधू के प्रस्थित होने पर । वे विगाड देते हैं विवाह का यज्ञ , यह जो हैं मङ्गलमय । पर बुद्धिमान् जन दूर तक जाती नववधू के सङ्ग, भेजते हैं अपने शुभ विचार । माता और पिता को नहीं सुहाता है उसका यह जो गमन, वहीं पति के हित बनता है मङ्गलमय आलिङ्गन ॥)[1]

श्रमगीतों[2] की परम्परा का उत्स वेद में ढूँढा जा सकता है। ऋग्वेद के नवम मण्डल का ११२वाँ सूक्त "सोम-पान-मत्त" तरुणों का होली-गीत-सा ही जान पडता है। यह सूक्त "पङ्क्ति" छन्द में है और इसके प्रति पञ्चम पाद में "**इन्द्रायेन्द्रो परिस्रव**" की टेक भी है। ऐसा लगता है कि एक व्यक्ति आगे-आगे गा रहा है और अन्य लोग पञ्चम पाद भर दुहराते हैं। प्रस्तुत सूक्त में से एक ऋक् उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है –

"नाना नं वा उन नो, धियो वि व्रतानि जनानाम् । तथा रिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्द्रो परि स्रव ॥"

---

[1] राधावल्लभ त्रिपाठी जी द्वारा अनूदित, पृ. १४९ , त्रिपाठी, राधावल्लभ, संस्कृत कविता में लोकजीवन, दिल्ली : यश पब्लिकेशन्स ॥

[2] श्रमगीत उन गानों को कहते हैं जो किसी कार्य को सम्पादित करते समय गाये जाते हैं । ऐसा देखा जाता है कि मजदूरी का पेशा करने वाले लोग अपनी शारीरिक थकावट को दूर करने के लिए किसी काम को करते समय गाना भी गाते जाते हैं । इससे उस कार्य को करने में मन लगा रहता है और परिश्रम का पता भी नहीं चलता । इस प्रकार के गीतों में रोपनी के गीत (खेतों में धान के पौधों को रोपते समय जो गीत गाये जाते हैं) तथा सोहनी के गीत (खेतों में व्यर्थ की घास और पौधे जो पैदा हो जाते हैं उन्हें काटकर अलग कर देने को सोहनी या निरौनी कहा जाता है) आदि गीत आते हैं ।

(भाँति-भाँति की होती है लोगों की मति, भाँति-भाँति के होते हैं लोगों के व्रत । चाहा करता है बढै रथ का टूट जाना, चाहा करता है वैद्य रोगी का आना । चाहा करता है पुरोहित यजमान को पाना, इन्द्र हो तुम सोम, इन्द्र के लिए चुओ ॥)[3]

अनेक विद्वानों ने ऋग्वेद का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन किया है। यद्यपि प्रो. घाटे ने "घाटेज लैक्चर्स ऑन ऋग्वेद"में, प्रो. केगी ने "दी ऋग्वेद"में, प्रो. मैक्डॉनल और कीथ ने "वैदिक इण्डैक्स ऑफ नेम्स एण्ड सब्जैक्ट्स" में, डॉ. जे.मूर ने "ओरिजनल संस्कृत टैक्स्ट्स"में, श्री रागोजिन ने "वैदिक इण्डिया"में एवं जिमर ने "आल्ट इण्डिशे लेबेन"में वैदिक आर्यों की सामाजिक स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया है किन्तु उनकी कृतियों में ऋग्वेद के लौकिक पक्ष का अध्ययन प्रायः विहङ्गम दृष्टि से ही किया गया है, इसके गम्भीर और समग्र अध्ययन का अभाव है । ऋग्वैदिक साक्ष्यों के आधार पर लोक-संस्कृति से सम्बद्ध विषय-सामग्री प्रस्तुत अध्ययन की वर्ण्य सामग्री है ।जनसाधारण के उद्देश्य, कार्य-कलाप, नैतिक आचरण और उनकी विचार-धारा से सम्बन्धित सामग्री "लौकिक सामग्री" कहलाती है । यहीं सामग्री वैदिक कविता की लोक-सांस्कृतिक काव्यधारा को अभिव्यक्त करती है । यहीं सामग्री वैदिक वाङ्मय में लोक-धर्मी परम्पराओं की परिचायिका है । लौकिक सामग्री में प्रमुखतः वह सामग्री आती है, जिसका सम्बन्ध देवताओं से या दर्शन से नहीं है यथा- ऐतिहासिक, नैतिक, मनोरञ्जन, जादू आदि ।

ऋग्वेद के विषय के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं । कुछ लोग इसमें साधारण प्रतिभा वाले लोगों की सीधी-सादी और स्वाभाविक धार्मिक प्रार्थनायें मानते हैं और कुछ इसमें ईश्वरीय ज्ञान का होना स्वीकार करते हैं । ऋग्वेद के गहन और आलोचनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त होने पर

---

[3] राधावल्लभ त्रिपाठी जी द्वारा अनूदित, पृ. १०७ , त्रिपाठी, राधावल्लभ, संस्कृत कविता में लोकजीवन, दिल्ली : यश पब्लिकेशन्स ॥

इसके प्रतिपाद्य विषय को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं – धार्मिक, दार्शनिक एवं लौकिक।

(अ) धार्मिक वर्ग में निश्चित देवों को सम्बोधित तथा उनका स्तवन करने वाले तथा उनसे धन, सन्तति, पशु आदि की प्रार्थना से युक्त सूक्त सम्मिलित हैं। ऋचाओं का सर्व-प्रमुख विषय है स्तुति या स्तवन [4]। ऋग्वैदिक मन्त्रों में "स्तुति" एक पारिभाषिक शब्दावली है, जिसका अभिप्राय बृहद्देवता में ही इस प्रकार स्पष्ट किया गया है –

> "स्तुतिस्तु नाम्ना रूपेण कर्मणा बान्धवेन च। स्वर्गायुर्धन-पुत्राद्यैरर्थैराशीस्तु कथ्यते॥" (बृहद्देवता, १/७)
>
> (अपने अभीष्ट देवता के नाम, रूप, कार्यों तथा सङ्गी-साथियों का प्रशंसा-परक वर्णन ही स्तुति है।)

देवता भले ही श्रेष्ठ हो; पर उनकी श्रेष्ठता भी मनुष्य को तभी स्वीकार्य है, जब वे मनुष्य के लिए उपयोगी हों। मनुष्य देवताओं की प्रशंसा करता है, तो उनसे अपने किसी ऐह-लौकिक और पार-लौकिक लाभ के लिए ही। यह लाभ की इच्छा ही "आशीः" कहलाती है। "आशीः" स्तुति के समान ही ऋचाओं का दूसरा प्रधान विषय है। बृहद्देवताकार ने उन ऋचाओं को भी चिह्नित किया जिनमें यें दोनों विषय स्वरूप लिए हुए हैं। उनका वचन है –

> "स्तुत्याशिषौ तु यास्वृक्षु दृश्येतेऽल्पास्तु ता इह। ताभ्यश्चाल्पतरास्ताः स्युः, स्वर्गे याभिस्तु याच्यते॥"(बृहद्देवता, १/८)

उपर्युक्त श्लोक में आचार्य शौनक ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि ऋग्वेद में ऐसी बहुत ही कम ऋचाएँ हैं यहाँ स्तुति और आशीः एक-साथ उपलब्ध हों।ऐसी ऋचाएँ तो न के ही बराबर हैं जिनमें स्वर्ग की कामना

---

[4] आचार्य शौनक ने बृहद्देवता ग्रन्थ में ऋचाओं का विषय-निर्देश करते हुए प्रतिपादित किया- "एते तु मन्त्र-वाक्यार्था देवतां सूक्त-भागिनीम्। संश्रयन्ते यथान्यायं स्तुतिस्त्वत्रानुमानिकी" (बृहद्देवता, १/६०)

की गई हो । इस प्रकार ऋग्वेद में लौकिक पदार्थ ही आशीर्वाद रूप में प्रार्थित है । जीवन के विकास की तथा वैयक्तिक कल्याण-कामना की इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति ने प्राकृतिक पदार्थों और शक्तियों के प्रति श्रद्धा भाव को जन्म दिया ।[5] इस प्रकार प्रकृति में दिव्य शक्तियों की अनुभूति और दिव्य शक्तियों के प्रति पूजा भावना जीवन की पहेली को सुलझाने की स्वाभाविक प्रक्रिया थी । धर्म के अन्तर्गत एक ओर तो दिव्य अथवा अलौकिक शक्तियों पर निर्भर मानव की धारणायें आती हैं और दूसरी ओर इन शक्तियों पर निर्भर मानव कल्याण की वह भावना जो विभिन्न उपासना-पद्धतियों में व्यक्त होती है । ऋग्वेद में एक धारा से विकसित हो चुकी प्राकृतिक घटनाओं के मूर्त्तिकरण की प्रवृत्ति प्रकाशित होती है । इसी प्राचीनतम सामग्री में अधिकांश भारतीयों के धार्मिक विश्वासों के अविच्छिन्न विकास के चिह्न देखे जा सकते हैं ।

(आ) "दृश्यते अनेन इति दर्शनम्" जिससे देखा जा सके, वह दर्शन है । वस्तुतः इस विश्व में समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थों को देखने के लिए मानव के नेत्र पर्याप्त नहीं हैं । समस्त पदार्थों का वास्तविक तात्विक स्वरूप जानने के लिए दर्शन शास्त्र की आवश्यकता पडी । दर्शन-शास्त्र का मूल ही जिज्ञासा है । ऋग्वैदिक ऋषि की जिज्ञासा स्पष्ट है- मैं कौन हूँ ? जीवात्मा और परमात्मा में क्या सम्बन्ध है ? मृत्यूपरान्त क्या होता है ?

(इ) लौकिक का अर्थ है – "लोक से सम्बद्ध"। जन-साधारण के उद्देश्य, उनके सुख-दुःख, कार्य-कलाप और उनकी विचारधारा से सम्बन्धित साहित्य "लोक-साहित्य" कहलाता है । किसी भी समाज में प्रचलित प्रथाओं से, संस्कारों से, आचार-विचारों से, और रहन-सहन के प्रकार से तत्कालीन सभ्यता का बोध होता है । ऋग्वेद देवोपाख्यान तथा धर्म एवं दर्शन की दृष्टि से सर्वोपरि ग्रन्थ है, किन्तु इन विषयों के अतिरिक्त उसमें अन्य सामग्री भी विद्यमान है, जो तत्कालीन जन—समाज से सम्बद्ध विषय का ज्ञान

---

[5] ऋक्, १/८५/११ ; ५/११/१

कराती है। इसमें ऋग्वैदिक आर्यों का दैनिक जीवन और सामाजिक प्रथायें आती हैं। ऋग्वैदिक लौकिक विषय अथवा ऋग्वेद में लोकधर्मी परम्परा से तात्पर्य ऋग्वैदिक जनसाधारण के जीवन के विविध पहलूओं का वर्णन है। धर्म के अतिरिक्त लोक से सम्बन्धित साधारण दैनिक आचार-विचार और प्रचलित प्रथायें लौकिक सामग्री अथवा लोकधर्मी परम्परा के अन्तर्गत आती है। ऋग्वेद में लौकिक सामग्री को धार्मिक एवं दार्शनिक सूक्तों से सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता। एक ओर यहाँ वैदिक मन्त्र प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकरण द्वारा उनसे एकरूपता स्थापित करने के उदात्त भाव, धार्मिक कृत्यों तथा आचार-विचारों को अभिव्यक्त करता है , वहीं दूसरी ओर वही मन्त्र समाज के मध्यम, निम्न मध्यम तथा निम्न वर्ग के लोगों के जीवन को भी दर्शाता है। जटिल धार्मिक कृत्यों, आचार-व्यवहार के वर्णन के मध्य सामान्य वर्ग के स्वर को ढूँढने के लिए गहन शोध अपेक्षित है।

ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में लौकिक और व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का रोचक वर्णन प्राप्त होता है। लोक-संस्कृति से सम्बद्ध विषयों की उपलब्धि ऋग्वेद की विशिष्टता को सूचित करती है। प्राप्त सामग्री को विभिन्न अध्यायों में विभक्त कर देखा जा सकता हैं, जिनका सङ्क्षेप में वर्णन इस प्रकार है –

१.) ऋग्वेद में ऐतिहासिक सामग्री : यह एक विवादास्पद विषय है कि वेदमन्त्रों में ऐतिहासिक घटनाओं के सङ्केत हैं या नहीं। सभी इतिहास-पक्षी वेद में व्यक्तिवाचक सञ्ज्ञाओं का होना स्वीकार करते हैं। वेदों में इतिहास स्वीकार न करने वालों का एक पृथक् वर्ग है जो वेद में इतिहास मानने को अर्थ का अनर्थ करना कहते हैं, वे व्यक्ति-वाचक सञ्ज्ञाओं की अन्यथा व्याख्या करते हैं। वस्तुतः यह मत-वैभिन्य स्वतः पृथक् रूप से एक अनुसन्धान का विषय है।

वस्तुतः पूर्व विद्यमान मन्त्र ही ऋषियों की अन्तश्चेतना में विशेष तात्पर्य के साथ प्रादुर्भूत हुए । ऋषियों ने देवताओं के अमर काव्य [6] का विषय धर्म एवं दर्शन कहा । ऋषियों ने प्रकृति [7] में होने वाली महान् एवं महत्त्वपूर्ण घटनाओं के विषय-विषयी भाव से वैदिक मन्त्रों का गान किया । इसी ऋषि परम्परा के समकक्ष सक्रिय सूत परम्परा ने तद्युगीन विशिष्ट मनुष्यों, राजाओं, ऋषियों तथा उनके वंशों को अपना विषय बनाया । इसलिए वें गीत जिनमें देवताओं की प्रशंसा की गई अर्थात् वैदिक मन्त्र, वें एक विशिष्ट अर्थ के साथ समाज में प्रचलित हुए तथा उसी कालक्रम में वें गीत जिनमें मानव वीरों का गुणगान किया गया, वें भी समाज में प्रचलित हुए । यें दोनों परम्पराएँ वस्तुतः मिलकर चलती रहीं और कभी-कभी तो वें एक-दूसरे में विलीन भी होती हुई दिखलाई पडती है । यहीं कारण है कि ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों का, सूक्तों का उन आदिम ऋषियों के द्वारा जो प्राकृतिक शक्तिपरक व्याख्यान किया गया होगा, उन्हीं व्याख्यानों को जन-सामान्य-सुलभ बनाने हेतु समाज में उन्हीं शक्तियों के प्रतिरूप कहें जाने वाले राजाओं के वर्णनपरक व्याख्यान में विलीन हो गया । ऋषि-परम्परा तथा सूत-परम्परा का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । इन दोनों परपराओं के पारस्परिक सम्बन्ध की पुष्टि में अक्सर वेदार्थविद् विद्वानों के द्वारा ऋग्वेद का "ब्रह्मजाया सूक्त" (१०/१०९) उद्धृत किया जाता है । प्राचीन ऋषियों ने इस सूक्त में एक ब्राह्मण की पत्नी के अपहरण तथा बाद में

---

[6] वैदिक वाक् में "प्रवाहनित्यता" का भाव होने से ही इसे "देवताओं का अमर काव्य" कहा जाता है । प्रवाह-नित्यता से अभिप्राय है जो परम्परा से परम्परा, पीढी-दर-पीढी चलता रहा हो अतः यह बताना असम्भव हो कि इसका कर्ता कौन है अथवा जिसका आदि-स्रोत खोजना असम्भव हो ।

[7] प्रकृति से अभिप्राय बाहरी निसर्ग अथवा पञ्चमहाभूतों (पृथिवी,जल,तेज,वायु,आकाश) मात्र से नहीं है अपितु "प्रकृति" से अभिप्राय वैश्विक चेतना से है । शास्त्रों में प्रकृति का यहीं अर्थ स्वीकृत किया गया है । यथाहि- "प्रकृतिस्त्वं च गुणत्रयविभाविनी । "(रात्रिसूक्तम्,दुर्गासप्तशती)

उसकी प्राप्ति का उल्लेख किया गया बताया है।[8] सूक्त की इसी व्याख्या को आगे बढाते हुए ताण्ड्य ब्राह्मण, विष्णुपुराण (४/६/१०-३३) तथा श्रीमद्भागवत्पुराण (९/१४) भी कथा के ऊपर प्रकाश डालते है। ऋग्वैदिक उल्लेख के अनुसार सोम ने बृहस्पति की पत्नी का हरण कर लिया था और बाद में उसने उसे वापस कर दिया। इस सूक्त में सोम के अनैतिक तथा कामुक आचरण का उल्लेख किया गया है। राजा सोम किल्विष अर्थात् पापाचरण के लिए जिम्मेदार है, यहीं इस सूक्त का केन्द्रीय भाव है। ताण्ड्य ब्राह्मण में बृहस्पति-पत्नी तारका से सोम के एक पुत्र होने का भी उल्लेख मिलता है। परवर्ती युग में इस कथा में व्यक्त हिंसा तथा अनैतिकता को न मानते हुए बृहस्पति, तारका, सोम तथा बुध को लेकर एक कथा बना ली गई, जिसने उसके मूल रूप को ही नष्ट कर दिया। ज्योतिष-शास्त्र से सम्बन्धित व्याख्यान इस कथा के आधार पर उपलब्ध हो गए। इस प्रकार ऋषि-कथन एक सामाजिक भूमिका से उठकर पुराकथात्मक धरातल पर पहुंच गया तथा इसे एक रूपक का स्वरूप प्राप्त हो गया। यहाँ यह ध्यातव्य है कि भागवत्पुराण इस कथा को ऐतिहासिक प्रसंग में वर्णन करता है, जब वह चन्द्रवंश का उल्लेख करता है। कथा के विस्तृत तथ्यों की पुष्टि से यह ही प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक सूक्त एक ऐतिहासिक घटना का वर्णन करता है। इस प्रकार काफी स्थलों पर ऐतिहासिक तथ्य ऋषि-परम्परा तथा सूत-परम्परा दोनों का समान आधार रहें हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्राचीन ऋषियों का प्राकृतिक-शक्ति परक व्याख्यान सूत-परम्परा के ऐतिहासिक व्याख्यान में ही विलीन-सा हो गया हो।

यास्क ने अपने निरुक्त में "इत्येतिहासिकाः" कहकर प्राचीन ऐतिहासिकों के मतों को प्रस्तुत किया है। ऋग्वेद के विभिन्न भाष्यकारों ने (यथा-सायण, महीधर एवं उवट) ऋग्वेद में व्यक्ति-विशेषों के इतिहास को एक मत से स्वीकार किया है। सभी पाश्चात्य विद्वानों (यथा-मैक्समूलर,

---

[8] "सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां, पुनः प्रायच्छदहृणीमानः। तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः, सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः॥" (ऋक्, १०/१०९/०५)

मैक्डॉनल, कीथ, ग्रिफिथ, ब्लूमफील्ड, रॉथ, विल्सन, गैल्डनर,हॉपकिन्स,रागोजिन,मेकेन्जी और ओल्डनवर्ग आदि) ने भी भारतीय विद्वानों के मत का समर्थन किया। ऋग्वेद में ऐतिहासिक सामग्री का अनुसन्धाता वैदिक मन्त्रों को त्रिधा वर्गीकृत कर सकता है। प्रथम वर्ग में वें मन्त्र सङ्ग्रहीत किए जाएँगें जिनमें स्थानवाचक शब्दों का प्रयोग हुआ है। दूसरे वर्ग में वें मन्त्र सङ्ग्रहीत किए जाएँगें जिनमें नामविशेष वाचक शब्दों को देखा जा सकता है और तीसरे वर्ग में वें मन्त्र सङ्ग्रहीत किए जाएँगें जिनमें युद्ध का वर्णन व्याख्यात किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सूत-परम्परा से प्रभावित वैदिक मन्त्रों के व्याख्यानों में जातिगत उल्लेख को चिह्नित कर तत्कालीन जातीय एवं सामाजिक व्यवस्थाओं का सुदृढ विवेचन सुलभ है। वैदिक मन्त्रों के व्याख्यान की यह विशिष्ट दृष्टि अत्यन्त प्राचीन काल से ही वेद में लोक की उपस्थिति खोजने के प्रयास को भी चिह्नित करती है। इसी क्रम में ऋग्वेद में आर्यों और अनार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। भारतीय विद्वानों ने ऋग्वेद में वर्णित आर्य और दस्युओं का भेद जातीय न मानकर गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित माना है। पाश्चात्य विद्वान् आर्य और अनार्यों में जातिगत भेद स्वीकार करते हैं। तदनुसार अनार्यों के राजाओं के नाम यथा- शम्बर[9], पिप्रु, तुग्र, शुष्ण आदि प्राप्त होते हैं। अनार्य आर्यों के विरोधी के रूप में वर्णित हैं। इन विद्वानों के मत में आर्य अनार्यों को हराने, अपनी बस्तियाँ बसाने और अपनी सभ्यता का प्रचार करने में व्यस्त रहते थे। वैदेशिकों के मत में ऋग्वेद में पणि भी आर्यों के विरोधी माने गए हैं। अश्विनी देवों से उनकी बुद्धि को विनष्ट कर उनको उदार बनाने का आग्रह किया गया है।[10] एक स्थल पर इनके समूल वध की कामना की गई है।[11] ऋग्वेद में आर्यों का शत्रुओं को विनष्ट करने तथा वध करने के लिए

---

[9] ऋक्, ७/१८/२०

[10] ऋक्, ३/५८/२

[11] ऋक्, १०/२९/०७

अनेकशः इन्द्र का आह्वान और परिणामतः प्रशंसा-गान प्राप्त होता है। ऋग्वेद में वर्णित युद्ध-प्रसंगों में दाशराज युद्ध सर्वप्रसिद्ध रहा। राजा सुदास की दस राजाओं के सङ्घ पर प्रशंसनीय विजय का वर्णन उल्लिखित है।[12] दानस्तुतियों से भी ऐतिहासिक सन्दर्भ प्रकाश में आते हैं।[13] यद्यपि इन सूक्तों का मुख्य विषय दानीय वस्तु तथा प्रदत्त राशि का उल्लेखमात्र है, तथापि प्रसंगवश उसमें दाताओं के कुल एवं वंश-परम्परा से सम्बन्धित नामों का वर्णन प्राप्त हो जाता है, जो ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ऋग्वेद में राजाओं का वर्णन, उनके विरोधियों की जातियाँ, उनके शमन का प्रयास सबका अनुशीलन एक पृथक् गवेषणीय विषय है।

२.) ऋग्वेद में आचार-सामग्री : व्यक्ति जिसे सङ्कल्प और इच्छा-शक्ति से प्रेरित होकर आरम्भ करता है, वह आचार कहलाता है। मनुष्य की व्यावहारिक उत्कृष्टता ही आचार है। आचार कर्तव्य-भावना, बुद्धि और तर्क से सम्बन्ध रखता है। भारतीय समाज देवों के आचरण को आदर्श मानता है। ऋग्वेद में अनेकशः आचरण-विषयक उल्लेख प्राप्त होते हैं। यथा- देव सत्य, दान आदि व्रतों के पालक हैं।[14] उनके आचरणवत् आचरण करने वाला मानव श्रेष्ठ मानव हो जाता है।[15]

आचार दो प्रकार का होता है – सदाचार और दुराचार। सदाचार में सत्य,अहिंसा,दान और सामञ्जस्य तथा दुराचार में चोरी, व्यभिचार और जुआ जैसी कुप्रवृत्तियाँ आती है। ऋग्वेद में सत्योक्ति को रक्षक के रूप में स्वीकार किया गया है।[16] ऋग्वेद में असत्यवादियों को सम्मान की दृष्टि से

---

[12] ऋक्, ७/१८/१३; ७/१८/१५

[13] वहीं, ५/३०/१२-१५; ६/४७/३२; ७/१८/२२-२५; ८/११/३२

[14] वहीं, ५/६७/४

[15] वहीं, ५/६५/२ ; ७/४९/३

[16] वहीं, १०/३७/२

नहीं देखा गया। एक कथा में कहा गया है कि असत्यवादियों ने इस अगाध नरक-स्थान को जन्म दिया है।[17] सत्य की नौकाएँ शुभ कर्म करने वाले को पार कर देती है।[18]

अहिंसा सद्वृत्ति का दूसरा रूप है। हिंसक अपने हिंसक कर्मों से स्वयं मारा जाता है।[19] ऋग्वेद में अहिंसक व्यक्ति का अनुसरण करने का उल्लेख है।[20] इन्द्रदेव से वाणी के माधुर्य हेतु प्रार्थना की गई है, [21] जिससे वाणी से भी किसी की हिंसा न हो।

सत्य और अहिंसापूर्ण जीवन में दानशीलता अधिक उत्कृष्टता को प्रतिपादित करती है। ऋग्वेद में दानी की प्रशंसा की गई है।[22] विभिन्न पदार्थों का दान करने से विभिन्न पदों की प्राप्ति होती है।[23] अदानी व्यक्ति का कभी कल्याण नहीं होता, समय पर कोई उसकी सहायता नहीं करता।[24] ऋग्वेद में कृपण व्यक्ति को दानशील बनाने और उसकी हृदयगत कठोरता के परिवर्तन हेतु प्रार्थना की गई है।[25]

ऋग्वैदिक समाज सामञ्जस्य की भावना से ओतप्रोत था। जन समुदाय में समानता के साथ-साथ सामूहिकता व्याप्त थी। सभी अपने

---

[17] वहीं, ४/५/५

[18] वहीं, ९/७१/१

[19] वहीं, १०/१३४/७ ; ८/१८/१३

[20] वहीं, ५/६४/३

[21] वहीं, २/२१/६

[22] वहीं, १०/११७/३

[23] वहीं, १०/१०७/६

[24] वहीं, १०/११७/१

[25] वहीं, ६/५३/७

विचारों की उन्नति के लिए पृथक्-पृथक् रूप से स्वतन्त्र थे। किसी विशेष कार्य के प्रति घृणा का भाव नहीं था, इसलिए, एक ही परिवार के सभी सदस्य अलग-अलग कार्य करते हुए वर्णित हैं।[26] एक स्थल पर कहा गया है कि सौभाग्य प्राप्ति के लिए कोई छोटा-बडा नहीं है।[27] ऋग्वेद सामूहिक भावना से ओतप्रोत है, क्योंकि इसमें सामूहिक भावना की ऋचाएँ बहुलता से पाई जाती हैं।[28]

ऋग्वेद में आचार की प्रशंसा और अनाचार की निन्दा की गई है। अक्ष सूक्त (ऋग्वेद, १०/३४) मानव की स्वार्थपरायण वृत्ति पर नैतिक उपदेश व्यक्त करता है, इसमें द्यूतकार के मानसिक द्वन्द्व का सजीव चित्रण मिलता है। द्यूतकार से मुख से ही अपनी आर्थिक और सामाजिक दुर्दशा की वैयक्तिक अभिव्यक्ति होने के कारण यह सूक्त आत्मपरक काव्य का सुन्दर उदाहरण है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में सामाजिक जघन्यताओं और विकृतियों से पूर्ण, निष्ठाहीन मनुष्यों के प्रति असंतोष-जनित विक्षोभ से पूर्ण उद्गार भी प्राप्त होते हैं। ऋणी जुआरी चोरी करने जाता है और अन्ततः वरुण देव से ऋण दूर करने का आग्रह करता है और कहता है कि वह दूसरों की कमाई का कभी भोग न करें।[29]

यद्यपि ऋग्वेद में सामाजिक सदाचार और अनाचार का कोई व्यवस्थित रूप प्राप्त नहीं होता, तथापि उपलब्ध सामग्री तत्कालीन आचार-मीमांसा करने के लिए पर्याप्त है।

---

[26] वहीं, ९/११२/३

[27] वहीं, ५/६०/५

[28] वहीं, १/८९/८ ; १०/९०/७-८ ; १/१९०/६ ; ३/५९/३ ; ४/५०/६ ; ७/४१/१ आदि।

[29] वहीं, १०/३४/१०

३.) ऋग्वेद में मनोरञ्जन की सामग्री : ऋग्वेद में वर्णित कतिपय लौकिक साधन ऋग्वेदकालीन मनोरञ्जन की सामग्री एवं तत्कालीन व्यक्तियों की अभिरुचि को प्रदर्शित करते हैं। ऋग्वेदकाल में घुडसवारी एवं घुडदौड सम्भवतः मनोरञ्जन के प्रमुख साधन थे। ऋग्वेद में अनेकशः घोडों और उनकी सवारी के वर्णन प्राप्त होते हैं।[30] आखेटविषयक प्रसंग ऋग्वेद में यत्र-तत्र बहुत कम प्राप्त होते हैं। इससे पशु और पक्षी दोनों के शिकार का परिचय मिलता है। कहीं कहीं जाल लिए हुए शिकारियों का भी उल्लेख प्राप्त होता हैं।[31]

अश्वमेध, राजसूय और वाजपेय आदि यज्ञों में आध्यात्मिक चिन्तन से सम्बद्ध प्रहेलिकायें आमन्त्रित व्यक्तियों के मध्य एवं व्यक्ति के व्यामोहन हेतु मनोरञ्जन के साधनरूप में व्याहृत थी।[32] वैदिक पहेलियाँ अधिकांशतया आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर आधृत है। यज्ञों के अवसर पर ये आध्यात्मिक चिन्तन में सहायक होती थी। बौद्धिक व्यायाम के साथ-साथ प्रहेलिकायें धार्मिक अवसरों पर रोचकता और आकर्षण उत्पन्न करती थी। इनके अतिरिक्त वैदिक काल में मेलों का भी आयोजन होता था और कलात्मक प्रतियोगिताओं को इस उत्सव में स्थान मिलता था। ऋग्वेद में उत्सव के लिए "समन"शब्द व्यवहृत हुआ है। "समन"में कविगण प्रसिद्धि के लिए और धनुर्धारी अपनी धनुर्विद्या के प्रदर्शन होते एकत्रित होते थे।[33] यह धनेच्छुकों को कार्य की प्रेरणा देता था और रात्रि पर्यन्त चलने वाला उत्सव था।[34] संगीत की तीनों विधायों का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। गायन, वादन और नृत्य में भी ऋग्वैदिक समाज की अभिरुचि दर्शनीय है।

---

[30] ऋग्वेद, १/१६२/७ ; १/१६२/१७ ; २/२७/१६ ; ५/६१/२-३ ; ५/६१/१० ; ६/४७/३१ ; ८/६/३६ आदि।

[31] वहीं, ३/४५/१

[32] वहीं, १/१६४ ; १/९५/४ ; ६/५९/५ ; १०/५३/११ ; १०/१२१/१० आदि।

[33] वहीं, २/१६/७ ; ९/९७/४७ ; ९/९६/९

[34] १/४८/६

एकत्र नर्तक के पैर से उडती हुई धूल का वर्णन है ।[35] द्यूत तत्कालीन मनोरञ्जन का प्रमुख साधन था । द्यूतकार के जुआ खेलकर और पासों की क्रीडा को देखकर निरन्तर उत्साहित होने का स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है ।[36]

४.) ऋग्वैदिक वेश-भूषा एवं प्रसाधन-सामग्री : ऋग्वेद के अनुशीलन से तत्कालीन वस्त्र-परिधान, अलंकरण, भूषा-सज्जा और केश-सज्जा के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है । वैदिक युग में विभिन्न प्रकार के ऊन से बने वस्त्र पहने जाते थे ।[37] वस्त्र-निर्माण चर्म से भी किया जाता था ।[38] कपडों पर कढाई भी की जाती थी, सम्भवतः इसके लिए स्वर्ण का प्रयोग किया जाता था । ऋग्वेद में "हिरण्ययान् अत्कान"का उल्लेख है,[39] जिसका अर्थ "सुवर्ण से काढे गए परिधान" ही किया गया है ।

मानव की सहज शृंगार प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति में प्रसाधन का सर्वदा विशेष महत्त्व रहा है । वैयक्तिक-शृंगार में प्रसाधन-सामग्री का उपयोग प्राचीन काल से ही विभिन्न रूपों में किया जाता रहा है । शृंगार प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमों (वस्त्र,आभूषण,केश-सज्जा) की अपेक्षा प्रसाधन-सामग्री का सदैव अधिक महत्त्व रहा है । इसके अनेकों कारण हो सकते हैं । जैसे कि, शृंगार-सामग्री के विकासक्रम में प्रसाधन-सामग्री निश्चित रूप से पहले प्रचलन में आयी । शृंगार-सामग्री के निर्माण और विकास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि वस्त्राभूषणों के पूर्व ही मनुष्य प्रसाधन-सामग्री से भलीभाँति परिचित हो चुका था । अपने प्रतिदिन के शृंगार में सबसे पहले उसे अङ्गराग, चन्दन, अञ्जन, सुगन्धि जैसे प्रसाधन-सामग्री की आवश्यकता पडती थी, इनके बाद ही वह अन्य शृंगार-सामग्री का प्रयोग करता था । शरीर के विभिन्न अंगों के साथ उपर्युक्त प्रसाधन-

---

[35] वहीं, १०/७२/६

[36] वहीं, १०/३४/१

[37] वहीं, १०/२६/६

[38] वहीं, १०/१३६/२

[39] वहीं, ५/५५/६

सामग्री के अविभाज्य सम्बन्ध के कारण भी इनका विशेष महत्त्व था। नेत्रों में अञ्जन तथा ललाट पर तिलक एवं अङ्गराग आदि शरीर के विभिन्न अंगों के साथ अविभाज्य तादात्म्य स्थापित कर उसे अलङ्कृत करते थे जबकि शृंगार के अन्य माध्यम बाह्य रूप से ही शरीर को सज्जित करते थे।

सैन्धव-सभ्यता के विभिन्न स्थलों पर हुए उत्खननों से तत्कालीन सभ्यता में प्रचलित शृंगार से सम्बन्धित अनेक सामग्री यथा, सोना,चाँदी,ताँबा और मिट्टी के आभूषण, केशों में लगाने की चिमटियाँ,कङ्घी,अञ्जन-शलाकाएँ, दर्पण आदि प्रकाश में आयी हैं। सैन्धव निवासियों का शृंगार-प्रसाधन से इतना मोह था क्कि मृत्यु के बाद शव के साथ दैनिक उपयोग की वस्तुयें रखते समय भी वें शृंगार-प्रसाधन रखना नहीं भूलते थे। सैन्धव निवासी शृंगार के साथ ही शरीर की स्वच्छता का भी पूरा ध्यान रखते थे। मोहनजोदडो का विशाल स्नानागार उनके जीवन में स्नान के विशेष महत्त्व का द्योतक है। शाङ्ख्यायन गृह्यसूत्र (१/२) में एकत्र विवाह के पूर्व वधू को विभिन्न जडी-बूटियों से सुवासित जल से स्नान कराये जाने का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि स्नान के पश्चात् शरीर की मालिश होनी चाहिए। इस ग्रन्थ में यज्ञ करने वाले व्यक्ति के शरीर पर सुवासित द्रव्यों का अनुलेप करने का भी उल्लेख है।[40] शाङ्ख्यायन गृह्यसूत्र (१/१२/४) में एकत्र उल्लेख है कि विवाह-संस्कार के समय, जब वधू माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धी-जनों से विदा लेती है, वर वधू को अनुलेप लगाता है। अथर्ववेद में वधू के साथ-साथ अभ्यागतों को भी अनुलेप लगाये जाने की चर्चा है।[41] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के अनेकों

---

40 "यत्रोदकं भवति तत्स्नान्ति। सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्त्वित्यञ्जलि नाप उपाचति वज्रो वा आप ....." (शतपथ, १३/८/४/५) तथा "एताम् ऋचां जयन्तो यन्ति तत्तमसः पितृलोकादादित्यं ज्योतिरभ्यायन्ति तेभ्य आगतेभ्य आञ्जनाभ्यञ्जने प्रयच्छन्त्येषु ह मानुषोऽलंकारस्तेनैव तं मृत्युमन्तर्दधते" (शतपथ, १३/८/४/७)

41 "चित्तिरा उपवर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्" (अथर्व, १४/१/६)

मन्त्रों में स्त्रियों के इत्र-प्रिय होने का जिक्र मिलता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में शवयात्रा से लौटते समय स्त्रियों के शृंगार का सजीव चित्रण हुआ है। इसमें कहा गया है कि विवाहित स्त्रियों को अपने पतियों के साथ सुवासित अनुलेपों एवं सुन्दर अलंकरणों से युक्त तथा दुःख से मुक्त रहने दो और सर्वप्रथम उन्हें ही अपने घर में जाने दो।[42]

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में एक स्त्री का उल्लेख है, जो अपने केशों की चार वेणियां बनाये हुए थी।[43] एक स्थान पर "क्षुर"शब्द का उल्लेख मिलता है,[44] जिससे "उस्तरा" अर्थ अभिप्रेत है। इससे सङ्केत मिलता है कि पुरुष वर्ग में दाढी-मूँछ मुंडवाने की प्रथा भी विद्यमान थी। विविध अवसरों पर सुगन्धित द्रव्य विशेषों को लगाने की प्रथा का भी चित्रण मिलता है।

५.) ऋग्वेद में अभिचार कर्मों से सम्बन्धित सामग्री : मन्त्र-प्रयोग और जादू से सम्बन्धित ज्ञान अथर्ववेद के साथ-साथ ऋग्वेद में भी कतिपय स्थलों पर चर्चित हुआ है। वस्तुतः तर्क न किये जा सकने योग्य, वे चामत्कारिक प्रभाव जो आश्चर्यजनक परिणाम उत्पन्न करते हैं "जादू"कहलाते हैं। रहस्यात्मक और चामत्कारिक दृश्य जादूगर के जादू का प्रभाव भी हो सकते हैं और ईश्वरीय शक्ति का परिणाम भी हो सकते हैं। ऋग्वेद में दैवी शक्ति के प्रभाव से प्राप्त रहस्यात्मक और चामत्कारिक ऋचायें मिलती हैं।[45] दशम मण्डल में शत्रुओं का विनाश करने वाली एक जादुई शक्ति प्राप्त होती है।[46]

ऋग्वैदिक दैवी चमत्कारों को विविध वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, यथा- ब्रह्माण्ड सम्बन्धी अद्भुत चमत्कार, रोगों एवं विकृतियों

---

[42] "इमा नारीरविधवाः सुपत्निराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु" (ऋग्वेद, १०/१८/७)

[43] वहीं, १०/१४४/३

[44] वहीं, २/१६६/१०

[45] वहीं, १/१८७ ; २/४२ ; २/४३ ; ४/५७ ; ५/७८ ; ६/२८ ; १०/५८-६० आदि।

[46] वहीं, १०/१५९/४

की रहस्यात्मक चिकित्सा तथा पुनर्युवाकरण एवं बांझपन का निवारण आदि। ऋग्वेद में दुरात्मा राक्षसों और पिशाचों का वर्णन भी मिलता है। राक्षस पश्वाकृति यथा- श्वान, श्येन, उलूक, शुशुनूक, कोकयातु, श्वयातु, सुपर्णयातु एवं गृध्रयातु आदि अनेक प्रकार के ऋग्वेद में वर्णित मिलते हैं।[47] इनसे रक्षा हेतु विविध देवों से प्रार्थनायें की गई हैं । राक्षस पक्षी बनकर रात्रि में विचरण करते हुए वर्णित हैं।[48] एक स्थल पर एक वर्ग-विशेष "पीतशृंग" नामक महान् पिशाचों को एवं अन्य राक्षसों को मारने के लिए इन्द्र का आह्वान किया गया है। ऋग्वेद में दुष्टात्माओं का एक वर्ग-विशेष "किमीदिन्" कहलाता है, जिसका अनेकशः वर्णन प्राप्त होता है।

ऋग्वेद में उन रोगों और उनकी चिकित्सा-विषयक सामग्री पर्याप्त रूप में प्राप्त होती हैं, तत्कालीन समाज में जिन रोगों से ग्रस्त व्यक्ति प्रायशः प्रत्येक परिवार में होने की सम्भावना अत्यधिक है। गर्भाशय से सम्बन्धित रोगों का उल्लेख ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक सूक्त में किया गया है।[49] राजयक्ष्मा का भी उल्लेख है और उसके नाश के लिए दो सूक्त कहे गए हैं।[50] एक सूक्त में विष के प्रतिकार का उपाय बताया गया है।[51] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में जल-चिकित्सा (१/२३/२० ; ६/५०/७) , सौर-चिकित्सा (६/५२/५ ; १०/३७/४) , वायु-चिकित्सा (१०/१८६/१ ; १०/१८६/३), मानस-चिकित्सा (१०/१३७/४) और स्पर्श-चिकित्सा (१०/१३७/७) का भी वर्णन मिलता है, जो तत्कालीन निसर्गोपचार के प्राधान्य को पुष्ट करता है।

इस प्रकार ऋग्वेद में प्राकृतिक और मानवीय सौन्दर्य के बाह्य रूपों का समावेश ही मात्र नहीं हुआ है, अपितु इन सबके शील-सौन्दर्य अथवा

---

[47] वहीं, ७/१०४/२२

[48] वहीं, ७/१०४/१८

[49] वहीं, १०/१६२

[50] वहीं, १०/१६१ ; १०/१६३।

[51] वहीं, १०/१९१

आन्तरिक सौन्दर्य की भी अभिव्यञ्जना मिलती है। ऋग्वेद प्राचीन युग की धार्मिक भावनाओं का चित्र पूर्णतया चित्रित करने में तो सर्वथा अप्रतिम है, किन्तु साथ ही साथ लौकिक विषयों से सम्बन्धित सामग्री को इतने पर्याप्त रूप में तो पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है जिससे प्राचीन आर्यों की सामाजिक स्थिति का पूर्णतया भान हो सकें।

उपसंहार

भारतीय साहित्य के प्रागैतिहासिक काल से प्रवाहित हो रहे अविच्छिन्न, गतिशील एवं सचेतन प्रवाह को जीवन-रस प्रदान करने वाली समृद्ध काव्य-परम्परा वेद से लेकर आज तक निरन्तर सक्रिय रही है, इसे ही "लोकधर्मी कविता की परम्परा" कहा जाता है। प्रासाद, हर्म्य, भवन, सभा, समीति एवं परिषद् की सँकरी दुनिया से उपजी एवं एकध्रुवीय चिन्तन-धारा से अनुप्राणित काव्य-परम्परा के समानान्तर लोकधर्मी कविता की परम्परा भारतीय जनता के विराट् संसार से उपजी है। सभा,समीति एवं परिषद् आदि में पोषित होने वाली एवं सभेय आचार-विचार तथा दर्शन को अपना विषय बनाने वाली कविता-परम्परा के विपरीत लोकधर्मी कविता-परम्परा अपना पाठ्यांश जनता के व्यावहारिक जीवन से ग्रहण करती है। अतः काव्य-परम्परा के तथाकथित आदिम बिन्दु से ही लोकधर्मी कविता-परम्परा का विभिन्न आयामों में विस्तार दिखलाई पडता है। इस काव्य-धारा को सूत-परम्परा ने विकसित किया। यहीं जन-कविता वैदिक संहिताओं में आख्यानों का रूप लेकर विकसित होती हुई इतिहास-पुराण साहित्य के रूप में प्रसिद्ध हुई। इस प्रकार साहित्य के आदिम सोपान में सूतों ने ही जन-साहित्य के सृजन एवं संरक्षण का दायित्व भली प्रकार निभाया और इस काव्य-धारा को उत्कृष्टता के चरम पर प्रतिष्ठापित करते हुए भारतीय जन-मानस की सामान्य-अति-सामान्य भावनाओं को भी मुख्य धारा के रूप में पहचान दिलाई। ऋषियों ने दार्शनिक, नैतिक एवं समाज-व्यवस्थाश्रित कविताओं का सृजन एवं संरक्षण किया तो सूतों ने जन-साहित्य का सृजन एवं संरक्षण किया। यदि धर्म एवं दर्शन ऋषि-काव्य का विषय हो सकता था तो आख्यान, कथा, इतिहास, पुराण, गाथा आदि सूत-काव्य की सामग्री थी। ऋषियों ने देवताओं के अमर काव्य का विषय धर्म एवं दर्शन कहा। ऋषियों ने प्रकृति में होने वाली महान् एवं महत्त्वपूर्ण घटनाओं के विषय-विषयी भाव से वैदिक मन्त्रों का गान किया। इसी ऋषि परम्परा के समकक्ष सक्रिय सूत परम्परा ने तद्युगीन विशिष्ट

मनुष्यों, राजाओं, ऋषियों तथा उनके वंशों को अपना विषय बनाया। इसलिए वें गीत जिनमें देवताओं की प्रशंसा की गई अर्थात् वैदिक मन्त्र, वें एक विशिष्ट अर्थ के साथ समाज में प्रचलित हुए तथा उसी कालक्रम में वें गीत जिनमें मानव वीरों का गुणगान किया गया, वें भी समाज में प्रचलित हुए। ऋषियों ने प्राकृतिक शक्तियों की प्रशंसा में गीत गाये तो सूतों ने मनुष्यों की प्रशंसा में गीत गाये। यदि ऋषि प्राकृतिक शक्तियों जैसे कि "इन्द्र" और "वरुण" को सम्राट् रूप में चित्रित कर उनके कार्यों को मन्त्रों का वर्ण्य विषय बताने में रुचि रखते थे, तो सूत उन्हीं प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिरूप समाज में रहने वाले राजाओं तथा उनके शाही व्यक्तित्वों में रुचि रखते थे। यदि ऋषि अपने धरातल पर दिव्य पुरोहित अग्नि और बृहस्पति में रुचि रखते थे, तो सूत मानवीय पुरोहित अगस्त्य, विश्वामित्र, भृगु, अङ्गिरस आदि के वर्णन में रुचि रखते थे। इस प्रकार ऋग्वैदिक काल से ही ये दोनों परम्पराएँ साथ-साथ चलती रहीं हैं, एक-दूसरे को प्रभावित करती रहीं हैं। यहीं कारण है कि ऋग्वेद में ऐसे कई सूक्त हैं जिनका आज ऐतिहासिक व्याख्यान मात्र ही उपलब्ध होता है। प्रस्तुत व्याख्यान इस तथ्य को बखूबी पोषित करते हैं कि वैदिक वाङ्मय का लौकिक कसौटी पर आकलन भारतीय मानस का सहस्त्राब्द पूर्व से ही प्रमुख विषय रहा है। अतः पाश्चात्य भारत-विदों एवं उनके भारतीय मानस-पुत्रों के द्वारा जो यें धारणाएँ विद्या-क्षेत्र में प्रसृत की गई है कि - (१.) वेद समाज के वर्ग विशेष तक ही सीमित होने से लोक-सामान्य को सहजतया प्रभावित करने में अक्षम था ; (२.) वैदिक वाङ्मय के मूल स्रोत वेद-संहिताएँ समाज के वर्ग विशेष तथा सामान्य वर्ग की धार्मिक मान्याताओं तथा कृत्यों का सङ्ग्रह मात्र हैं ; एवं (३.) वेद उच्च कोटि के दार्शनिक विचारों एवं आध्यात्मिक अनुभवों का ही कोष मात्र है – यें सर्वथा निरर्थक एवं प्रमाण-शून्य सिद्धान्त है। सुदूर शताब्दियों से ही सूत-परम्परा के द्वारा सञ्चित की गई वैदिक मन्त्रों की आधिभौतिक व्याख्या पाश्चात्यों के सिद्धान्त को सर्वथा निरस्त कर देती है।

परिशिष्ट

वैदिक वाङ्मय में लोकधर्मिता के सन्दर्भ[1]

✓ **मनोरञ्जन के साधन : अक्ष, कार्ष्मन् ॥**

१. अक्ष : ऋग्वेद तथा तदुत्तरवर्ती वैदिक साहित्य में "पासा" अथवा "गोटी" के अर्थ में "अक्ष" शब्द का एकवचन तथा बहुवचन दोनों ही रूपों में उल्लेख मिलता है। वैदिक साहित्य में इस खेल [2]का बहुधा उल्लेख होने पर भी इसके खेलने की पद्धति का स्पष्टतया अनुमान तक लगाया जाना भी अत्यन्त दुष्कर कार्य है। मैकडोनेल एवं कीथ के अनुसार[3], पासे खेलने के लिए किसी पट या तख्ते का प्रयोग किया जाता था - ऐसा प्रतीत नहीं होता बल्कि भूमि भूमि पर ही जहाँ पसे फेंके जाते थे एक नीचा-सा स्थान बना लिया जाता था। इस खेल में गम्भीर हार या क्षतियाँ हो सकती थी। ऋग्वेद में एक पासा खेलने वाला अपनी पत्नी[4] और सम्पूर्ण सम्पत्ति के हार

---

[1] वैदिक वाङ्मय में लोक-धर्मिता के सन्दर्भ "ए.ए. मैकडौनेल" एवं "ए.बी.कीथ" द्वारा "Vedic Index of Names and Subjects" शीर्षक से सङ्कलित सामग्री का विभिन्न लौकिक विषयों के अन्तर्गत पुनः सङ्कलन मात्र है। प्रस्तुत कोश में मैकडौनल एवं कीथ ने प्राचीनतम भारतीय ग्रन्थों में उपलब्ध सभी प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री को वर्णानुक्रम से सङ्कलित किया है। मैकडौनल के अनुसार, ऐतिहासिक सामग्री के अन्तर्गत कोश में कृषि, ज्योतिष, अन्त्येष्टि, जाति, वेश-भूषा, अपराध, व्याधियाँ, आर्थिक स्थितियाँ, खान-पान, द्यूत, राजसत्ता, न्याय और विधान, विवाह, नैतिकता, व्यवसाय, बहुपत्नीत्व और बहुभर्तृत्व, स्त्रियों की स्थिति, व्याज और ऋण, ग्राम समुदाय, युद्ध, विवाह-संस्कार, सती, अभिचार तथा अनेक अन्य सम्बद्ध उन सभी विवरणों का समावेश किया गया है जो वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में लोक-संस्कृति का पर्यवेक्षण करने हेतु प्रस्तुत कोश की समीक्षा अपरिहार्य है।

[2] यद्यपि "अक्ष" शब्द क्रीडाविशेष के उपकरण के रूप में वैदिक साहित्य में दृष्टिगोचर होता है, तथापि तत्क्रीडा का निर्देश इसी शब्द से यहाँ कर दिया गया है।

[3] वैदिक इण्डेक्स, (भाग-१), मैकडौनेल, ए.ए. तथा कीथ, ए.बी., (हिन्दी अनुवाद) रामकुमार राय, वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन (सं. २०१४)

[4] ऋग्वेद, १०/३४/०२ तथा इस खेल में छल या कपट के प्रयोग का वर्णन देखे – ऋग्वेद, ५/८५/०८ ; ०७/८६/०६

जाने पर विलाप करता है । उपलब्ध वर्णन के आधार पर इस खेल से सम्बन्धित निम्न तथ्यों की जानकारी दी जा सकती है –

(क.) खेल के उपकरण / साधन : वैदिक काल में "पासे" सामान्यतया "विभीदक" नामक फल के बीज के बने हुए से प्रतीत होते है । इस प्रकार के पासों का ऋग्वेद [5] तथा अथर्ववेदीय पैप्पलाद संहिता [6] में उल्लेख मिलता है । ऐसे पासों के लिए "बभ्रु" विशेषण का प्रयोग किया गया है, जों इन्हें "भूरे रङ्ग"का होना सिद्ध करते है । ऋग्वेद में इनकी सङ्ख्या "त्रिपञ्चाशः" शब्द से निर्दिष्ट की गई है ।

२. कार्ष्मन् : "कार्ष्मन्" शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में ही मिलता है [7] । प्रस्तुत शब्द का अभिप्राय "हलरेखा" अर्थात् हल की लीक है , यह रथ की दौड में चरम लक्ष्य-स्थान का द्योतक है । प्रतिस्पर्धार्थिगण इसके चारों ओर से घूम कर पुनः आरम्भ-स्थान पर आ जाते थे ।

✓ **वृत्ति तथा यातायात के साधन : अक्षु , अनड्-वाह् , अनस् , अपालम्ब , कण्टकी-कारी , चारण : कारु , कीनाश , कुलिश , कूट , कृषि , केवर्त / कैवर्त , कौलाल ॥**

१. अक्षु : "अक्षु"शब्द का प्रयोग अथर्ववेद के दो स्थलों पर [8] तथा ऋग्वेद के एक स्थल पर [9] मिलता है । सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश में रॉथ इसका अनुवाद "जाल" करते है, जबकि बॉटलिङ्क के विचार से इसका अभिप्राय "गाडी का धुरा" है । एक अन्य विदेशी विद्वान् गेल्डनर इसका अभिप्राय मात्र "लट्ठा या खम्भा" मानते है ।[10] गेल्डनर के अनुसार "अक्षु" शब्द मछुओं

---

[5] ऋग्वेद, ७/८६/६ ; १०/३४/१

[6] अथर्ववेदीय पैप्पलाद, २०/०४/६

[7] ऋग्वेद, १/११६/१७ ; ९/३६/१ ; ९/७४/८

[8] अथर्ववेद, ८/८/१८ ; ९/३/१८

[9] ऋग्वेद, १/१८०/५

[10] वैदिक इण्डेक्स, पृ. ७

के जाल में प्रयुक्त होने वाले लट्ठों, गाडी में लगे लट्ठों या खम्भों, घरों में लगे खम्भों या स्तम्भों का बोधक है।

२. अनड्वाह् : प्रस्तुत शब्द का शाब्दिक अर्थ है "गाडी खींचने वाला"। "अनड्वाह्" गाडी खींचने वाले बैलों का सामान्य नाम है।[11] वैदिक इण्डेक्स के अनुसार[12] साधारणतया ऐसे बैल बधिया होते थे[13] तथा विरले अवसरों पर मांदा अनड्वाही अर्थात् गाय (अनडुही) का भी प्रयोग होता था।[14]

३. अनस् : आमोद-प्रमोद अथवा युद्ध के लिए प्रयुक्त रथ के विपरीत इस शब्द का प्रयोग खींचने वाली गाडी के लिए किया गया है।[15] कभी-कभी रथ से इसकी निश्चित विभिन्नता स्पष्ट की गई है[16], फिर भी एक बार रथ के स्थान पर इन्द्र को "गाडी पर बैठा हुआ" (अनर्-विश्) कहा गया है।[17] यद्यपि उषस् (उषा की देवी) कभी-कभी रथ पर चलती है, तथापि गाडी ही उसकी वास्तविक सवारी है[18]। इसकी बनावट के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात है। ऋग्वेद के विवाह सूक्त में जिस गाडी पर सूर्य की पुत्री "सूर्या" बैठाई गई थी उस पर छाजन (छदिस्) था[19]। वैदिक इण्डेक्स के अनुसार[20],

---

[11] ऋग्वेद, १०/५९/१० ; १०/८५/१० ; ३/५३/१८ ; अथर्ववेद, ३/११/५ ; ४/११/१ ; शतपथब्राह्मणम् , २/१/४/१७

[12] वैदिक इण्डेक्स, पृ. २५

[13] सन्दर्भ के लिए देखें, अथर्ववेद, ३/९/२ ; ६/१३८/२ ; तैत्तिरीय संहिता, १/८/९/१

[14] सन्दर्भ के लिए देखें, शतपथब्राह्मणम्, ५/२/४/१३ ; ५/३/४/११

[15] ऋग्वेद, ४/३०/१० ; १०/८५/१० ; १०/८६/१८ ; शतपथब्राह्मणम् , १/१/२/५ ; छान्दोग्योपनिषद्, ७/१५/१ ; कौषीतकि उपनिषद्, ३/८

[16] ऋग्वेद, ३/३३/९

[17] ऋग्वेद, १/१२१/७

[18] ऋग्वेद, २/१५/६ ; ४/३०/११ ; ९/९१/७ ; १०/७३/६ ; १०/१३९/५

[19] ऋग्वेद, १०/८५/१०

[20] वैदिक इण्डेक्स, पृ. २५

अथर्ववेद में प्रयुक्त "विपथ" [21] शब्द ऊबड-खाबड या खराब रास्तों के लिए प्रयुक्त होने वाली स्थूल गाडियों का द्योतक प्रतीत होता है। सामान्यतया गाडी बैलों के द्वारा खींची जाती थी। उषा की गाडी लाल गायों अथवा बैलों के द्वारा खींची जाने का वर्णन मिलता है।

४. अपालम्ब : इस शब्द से स्तम्भक अथवा अवरोधक का बोध होता है [22], जिसे गाडी की गति रोकने के लिए नीचे गिराया जाता था।

५. कण्टकी-कारी : प्रस्तुत शब्द का शाब्दिक अर्थ है "काँटों में कार्य करने वाला"। शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयि संहिता में "कण्टकीकारी" पुरुषमेध में अनुष्ठित होने वाले बलिप्राणियों में से एक है। वैदिक इण्डेक्स में इस शब्द का सम्बन्ध चटाई-निर्माण से इस प्रकार दर्शाया गया है "इसमें सन्देह नहीं कि काँटों को काटकर उनका चटाईयों को गूँथने अथवा गद्दों को सिलने के लिए, प्रयोग किया जाता था।"[23]

६. कारु (चारण) : "कारु" शब्द व्यवसायी कवि के लिए प्रयुक्त माना जाता है।[24] विदेशी विद्वानों के अनुसार, ऐसे कवि मुख्यतः राजाओं के दरबार में उनके सेवकों के बीच रहते थे और धनी व्यापारियों की प्रशंसा में भी गीत-गान करते थे। कवि और पुरोहित में सम्भवतः कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं था। यद्यपि पुरोहित भी अक्सर कवि ही होता था, तथापि कविता पुरोहित जाति तक कदाचित् ही सीमित रही होगी। इसके विपरीत शतपथब्राह्मण एकत्र निर्देश करता है कि अश्वमेध के समय स्तुति वाक्यों का एक गायक "राजन्य" होना चाहिए जबकि दूसरा ब्राह्मण, और दोनों ही स्वरचित पद्यों को गायें [25]। इसका प्रमुख आधार यह है कि अब्राह्मणों के

---

[21] अथर्ववेद, १५/२/१

[22] शतपथब्राह्मणम्, ३/३/४/१३

[23] वैदिक इण्डेक्स, पृ. १४९

[24] वैदिक इण्डेक्स, पृ. १६६

[25] शतपथब्राह्मणम्, १३/१/५/१

कवि होने में भारतीय परम्परा प्रत्यक्षतः किसी प्रकार की भी असंगति नहीं मानती है।

७. कीनाश : यह हलवाहों अथवा खेती करने वाले कृषकों का नाम है जिसका प्रयोग ऋग्वेद [26], शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयि संहिता [27], अथर्ववेद [28] तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण [29] में आया है। अथर्ववेद में एकत्र कृषि आरम्भ करने का श्रेय पृथी वैन्य को दिया गया है[30], और ऋग्वेद में भी एकत्र "अश्विनौ" को हल जोतकर बीज बोते हुए कहा गया है।[31]

८. कुलिश : "कुलिश" शब्द "कुल्हाडी" का वाचक है। "कुल्हाडी" का रथ बनाने के लिए[32] और युद्ध में[33] प्रयोग ऋग्वेद में वर्णित हुआ है। अथर्ववेद वृक्ष काटने के लिए इसके उपयोग का उल्लेख करता है।[34]

९. कूट : प्रस्तुत शब्द का ऋग्वेद[35], अथर्ववेद[36] और ब्राह्मण ग्रन्थों[37] में प्रयोग पाया जाता है। वैदिक इण्डेक्स के अनुसार[38] प्रस्तुत शब्द का

---

[26] ऋग्वेद, ४/५७/८

[27] शुक्लयजुर्वेद, ३०/११

[28] अथर्ववेद, ४/११/१० ; ६/३०/१

[29] तैत्तिरीयब्राह्मणम्, २/४/८/७

[30] अथर्ववेद, ८/१०/२४

[31] ऋग्वेद, १/११७/२१

[32] ऋग्वेद, ३/२/१

[33] ऋग्वेद, १/३२/५

[34] अथर्ववेद, २/१२/३

[35] ऋग्वेद, १०/१०२/४

[36] अथर्ववेद, ८/८/१६

[37] ऐतरेयब्राह्मणम्, ६/२४ ; शतपथब्राह्मणम्, ३/८/१/१५ तथा जैमिनीयब्राह्मणम्, १/४९/९

[38] वैदिक इण्डेक्स, पृ. १९५

आशय संदिग्ध है। इण्डेक्स "कूट" का आशय "हथौडा" मानने का पक्षधर है।

१०. कृषि : यथा "कीनाश" शब्द के व्याख्यान में स्पष्ट किया गया है कि अथर्ववेद में एकत्र कृषि आरम्भ करने का श्रेय पृथी वैन्य को दिया गया है, और ऋग्वेद में भी एकत्र "अश्विनौ" को हल जोतकर बीज बोते हुए कहा गया है। "कृषि" शब्द का उल्लेख अन्य सभी वैदिक संहिताओं में मिलता है, यथाहि - तैत्तिरीय संहिता[39], मैत्रायणी संहिता[40], शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयि संहिता[41]। "कृषि" कर्म के विषय में वैदेशिक विद्वानों का मत वैदिक इण्डेक्स में इस प्रकार संकलित किया गया है – "इसमें सन्देह नहीं कि ईरानियों से पृथक् होने से पहले से ही भारतीय कृषि से परिचित थे। यह ऋग्वेद के "यवं कृष्" और "सस्य" तथा अवेस्ता की "यओ करेश्" और "हह्य" व्याहृतियों की समानता से स्पष्ट होता है, जिनसे (इन उद्धृत वाक्यांशों से) जोत कर बोये हुए बीज और उनसे उपजे हुए अन्न का आशय है। किन्तु यह बात भी महत्त्वहीन नहीं कि जोतने से सम्बद्ध व्याहृतियाँ प्रमुखतः ऋग्वेद के केवल प्रथम और दशम् मण्डलों में ही आती हैं, और यह तथाकथित "पारिवारिक मण्डलों (ऋग्वेद के दूसरे मण्डल से लेकर साँतवे मण्डल तक)" में अत्यन्त दुर्लभ है।"[42]

वैदिक वाङ्मय में कृषि के योग्य भूमि को "उर्वरा" अथवा "क्षेत्र" कहा गया है। खाद के लिए वैदिक वाङ्मय में "शकन्" तथा "करीष" शब्दों का

---

[39] तैत्तिरीयसंहिता, ७/१/११/१

[40] मैत्रायणीसंहिता, १/२/२ ; ३/६/८

[41] शुक्लयजुर्वेद, ४/१० ; ९/२२

[42] वैदिक इण्डेक्स, पृ. २००

उपयोग है । शतपथ ब्राह्मण में "करीष" शब्द गोबर के सूखे उपलों का द्योतक है [43]। अथर्ववेद में अनेक प्रसंगों [44] में यह प्रकट होता है कि खेतों के लिए पशुओं की प्राकृतिक खाद का महत्त्व स्वीकार किया जाता था । सिंचाई कर्म को "खनित्र" शब्द से कहा गया है । "खनित्रिम" का शाब्दिक तात्पर्य "खोदने से उत्पन्न होने वाला" है । "खनित्रिम" का प्रयोग "खोदने से उत्पन्न हुए आपः (जल)" के लिए किया जाता है [45], जो कि वैदिक काल में सिंचाई के लिए व्यवहार में लाये जाने वाले कृत्रिम जलाशयों का स्पष्ट संकेत करता है । वैदिक अस्हिताओं में हल के लिए "लाङ्गल" तथा "सीर" शब्द का अनेकत्र प्रयोग मिलता है । हल बैलों के द्वारा खींचा जाता था जिसके लिए छ, आठ और कभी-कभी बारह बैल तक प्रयुक्त होते थे ।[46] कृषि सम्बन्धी विभिन्न क्रियाएँ शतपथ ब्राह्मण[47] में स्पष्टतया इस प्रकार वर्णित हैं : "जोतना,बोना,काटना और दवाँई करके अन्न अलग करना" (कृषन्तः, वपन्तः,लुनन्तः,मृणन्तः) । ऋग्वेद [48] में वर्णन मिलता है कि पकी फसल को हँसिया (दात्र,सृणि) से काटा जाता था, उन्हें गट्ठरों में बाँधा जाता था और अन्नागार की भूमि [49] पर पटका जाता था । इसके बाद या तो छलनी (तितौ) से अथवा "ओसा"कर (शूर्प) तृण और भूसे से अनाज को अलग कर लिया जाता था [50]। ओसाने वाले को "धान्याकृत्"[51] कहा जाता था । एक पात्र में, जिसे "ऊर्दर"[52] कहते थे, अन्न को भरकर नापा जाता था।

---

[43] शतपथब्राह्मणम्, २/१/१/७

[44] अथर्ववेद, ३/१४/३ ; १९/३१/३

[45] ऋग्वेद, ७/४९/२ ; अथर्ववेद, १/६/४ ; १९/२/२

[46] अथर्ववेद, ६/९१/१ ; काठकसंहिता, १५/२

[47] शतपथब्राह्मणम्, १/६/१/३

[48] ऋग्वेद, ८/७८/१० ; १०/१०१/३

[49] ऋग्वेद, १०/४८/७

[50] ऋग्वेद, १०/७१/२ ; अथर्ववेद, १२/३/१९

शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयि संहिता [53] में अन्न के अनेकों प्रकारों का जिक्र मिलता था। यथा वहाँ व्रीहि (सम्भवतः चावल), यव (सम्भवतः जौं), यव की दूसरी किस्म "उपवाक", मुद्ग,माष,तिल, अणु, खल्व,गोधूम,नीवार,प्रियङ्गु,मसूर,श्यामाक – इन शब्दों का अन्न के रूप में उल्लेख मिलता है। कृषकों की प्रधान समस्याएँ अतिवृष्टि, अनावृष्टि, जीवों द्वारा फसल का नुक्सान इत्यादि विपत्तियों से बचाव के लिए अथर्ववेद [54] में अभिचारीय मन्त्र दिए गए हैं।

११. केवर्त / कैवर्त : शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयि संहिता [55] और कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता [56] के पुरुषमेध यज्ञ में अनुष्ठित होने वाले बलिप्राणियों की तालिका में यह दोनों शब्द "मछुये" के वाचक है।

१२. कौलाल : शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयि संहिता [57] के भाष्यकार महीधर के अनुसार प्रस्तुत शब्द वंशानुगत कुम्हार का वाचक है।

✓ **घरेलू उपकरण : अधिवास , कंस , कट , कम्बल , करीष , कशिपु , कारोतर , कोश ॥**

१. अधिवास : "अधिवास" शब्द ऋग्वेद [58] में "ऊपरी परिधान" का वाचक है। वैदिक वाङ्मय में इसके रूप अक समुचित वर्णन नहीं प्राप्त होता,

---

[51] ऋग्वेद, १०/९४/१३

[52] ऋग्वेद, २/१४/११

[53] शुक्लयजुर्वेद, १८/१२

[54] अथर्ववेद, ६/५०/१४२

[55] शुक्लयजुर्वेद, ३०/१६

[56] तैत्तिरीयसंहिता, ३/४/१२/१

[57] शुक्लयजुर्वेद, ३०/७

[58] ऋग्वेद, १/१४०/९ ; १/१६२/१६ ; १०/५/४

परन्तु शतपथ ब्राह्मण [59] में उल्लिखित संस्कार में राजा के द्वारा पहले एक "अन्तरीय परिधान" पहनने, उसके ऊपर एक अन्य परिधान और सबके बाद एक "ऊपरी परिधान" पहनने के कारण सम्भवतः "अधिवास" एक चोगे का बोधक प्रतीत होता है।

२. कंस : "धातु के बर्तन" अथवा "पात्र" का वाचक यह शब्द अथर्ववेद एवं अन्यत्र वैदिक साहित्य [60] में प्रयुक्त है।

३. कट : "कट" शब्द चटाई का वाचक है, जो "वैतस" की बनी होती थी। वैतस से चटाई बनाने वाले का "बिदल-कारी" नाम से उल्लेख वाजसनेयि संहिता [61] में मिलता है, और इस कार्य के लिए "वैतस" चीरने की विधि अथर्ववेद [62] में बताई गई है।

४. कम्बल : अथर्ववेद[63] में यह शब्द ओढने के ऊनी वस्त्र का वाचक है।

५. करीष : "करीष" शब्द का शतपथ ब्राह्मण [64]में गोबर के सूखे उपलों के अर्थ में प्रयोग मिलता है। अथर्ववेद (३/१४/३-४ ; १९/३१/३) द्वारा यह प्रकट होता है कि खेतों के लिए पशुओं की प्राकृतिक खाद का महत्त्व तत्काल में स्वीकार किया जाता था।

६. कशिपु : प्रस्तुत शब्द "चटाई" या "गद्दे" का वाचक है। अथर्ववेद (६/१३८/५) के अनुसार स्त्रियाँ द्वारा यह "नरकट" (नड) द्वारा बानाया

---

[59] शतपथब्राह्मणम् , ५/३/५/२२

[60] अथर्ववेद, १०/१०/५ ; ऐतरेयब्राह्मणम्, ८/१० ; बृहदारण्यकोपनिषद्, ६/३/१

[61] शुक्लयजुर्वेद, ३०/८

[62] अथर्ववेद, ६/१३८/५

[63] अथर्ववेद, १४/२/६६

[64] शतपथब्राह्मणम्, २/१/१/७

जाता था। वैदिक इण्डेक्स के अनुसार[65] इस कार्य के लिए नरकट को पत्थर से पीटकर महीन किया जाता था।

७. कारोतर : प्रस्तुत शब्द ऋग्वेद (१/११६/७) और अधिकतर दूसरी संहिताओं एवं ब्राह्मणग्रन्थों [66]में सुरा नामक द्रव्य को साफ करने के लिए प्रयुक्त होने वाली "छलनी" का वाचक है।

८. कोश : ऋग्वेद (१/१३०/२ ; ३/३२/१५ ; ४/१७/६) में प्रस्तुत शब्द "बाल्टी" का वाचक है, जिसकी सहायता से कूयें (अवत) से जल खींचा जाता था। वैदिक इण्डेक्स के अनुसार[67] विविध संस्कारों में यह "कलश" से भिन्न सोम रखने के एक पात्र का भी वाचक है।

✓ **नागरी सभ्यता से सम्बन्ध न रखने वाली जातियाँ :**

- **यायावर जातियाँ : कर्करि-कर्ण्यः**
- **हत्थकरघा उद्योग से सम्बन्धित जातियाँ : कर्मार**
- **पर्वतीय जातियाँ : किरात**

१. यायावर जातियाँ : कर्करि-कर्ण्य : वैदिक वाङ्मय [68] में "कर्करि" शब्द एक वाद्ययन्त्र का वाचक है। वैदिक इण्डेक्स के अनुसार [69] प्रस्तुत शब्द वीणा का परिचायक है। तदनुसार मैत्रायणीसंहिता [70] में ऐसे मवेशियों का उल्लेख मिलता है, जिनके कान पर वीणा जैसा चिह्न लगा दिया जाता था, इन मवेशियों को वहाँ "कर्करि-कर्ण्य" नाम से सम्बोधित किया गया है।

---

[65] वैदिक इण्डेक्स, पृ. १६०

[66] शुक्लयजुर्वेद, १९/१६ ; शतपथब्राह्मणम्, १२/९/१/२ ; कौषतकिब्राह्मणम्, २/७

[67] वैदिक इण्डेक्स, पृ. २१०

[68] ऋग्वेद, २/४३/३ ; अथर्ववेद, ४/३७/४

[69] वैदिक इण्डेक्स, पृ. १५५

[70] मैत्रायणीसंहिता, ४/२/९

२. हत्थकरघा उद्योग से सम्बन्धित जातियाँ : कर्मार : प्रस्तुत शब्द "शिल्पी" का वाचक है । वैदिक वाङ्मय में प्रस्तुत शब्द का अनेकत्र प्रयोग हुआ है । [71] वैदिक इण्डेक्स के अनुसार [72] अथर्ववेद (३/४/६) में शिल्पी लोगों का वर्णन "मछली मारने वालों" ("धीवानः") और "रथ बनाने वालों" (रथ-काराः) के साथ मिलता है (यद्यपि प्रस्तुत सन्दर्भ का निर्दिष्ट आशय-बोध करना कई विद्वानों के अनुसार सन्दिग्ध है ।) । शिल्पियों की कार्य-प्रणाली और उनके औजारों के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात पडता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि वें धातु को अग्नि में गलाते ("धमा" शब्द के द्वारा इस भाव को कहा गया है) थे ; इसी कारण इन्हें "धमातृ" कहा गया है ।[73] पक्षियों के परों से निर्मित इनकी धौंकनी का भी उल्लेख मिलता है ।[74] शिल्पी आग पर चढाये जा सकने योग्य "धातु-पात्र" ("घर्म अयस-मयम्" शब्द के द्वारा इस भाव को कहा गया है) बनाते थे । यहाँ तक कि सोम-प्याला भी कभी-कभी पिटी-हुई धातु ("अयो-हत" सोम-प्याले के लिए प्रयुक्त विशेषण का यहीं तात्पर्य है) का बना होता था ।[75]

३. पर्वतीय जातियाँ : किरात : "किरात" विशिष्ट प्रकार की जाति के लोगों के लिए प्रयुक्त नाम है , जो पर्वतों की गुफाओं में रहते थे । वाजसनेयि संहिता [76] में किरातों को गुफाओं (गुहा) को समर्पित किये जाने, और अथर्ववेद [77] में एक किरात बालिका ("कैरातिका" नाम से प्रस्तुत

---

[71] ऋग्वेद, १०/७२/२ ; अथर्ववेद, ३/५/६ ; शुक्लयजुर्वेद, १६/२७ ; ३०/७ ; काठकसंहिता, १७/१३ ; मैत्रायणीसंहिता, २/९/५

[72] वैदिक इण्डेक्स, पृ. १५६

[73] ऋग्वेद, ५/९/५

[74] ऋग्वेद, ९/११२/२

[75] ऋग्वेद, ९/१/२

[76] शुक्लयजुर्वेद, ३०/१६

[77] अथर्ववेद, १०/४/२४

सन्दर्भ में उद्धृत) जो कि पर्वतों पर औषधि खोदती है – इत्यादि सन्दर्भों से किरात जाति का उपर्युक्त आशय स्पष्टतया प्रतीत होता है।

✓ **रीति-रिवाजों से सम्बन्धित शब्द**

- **संस्कार : अग्नि-दग्ध**
- **अभिचार कर्मों के वाचक शब्द : अपामार्ग, कूदी**

१. संस्कार : अग्नि-दग्ध : वैदिक वाङ्मय [78] में "अग्नि-दग्ध" विशेषणपरक शब्द है। इस विशेषण (जिसका शाब्दिक अर्थ "आग से जला हुआ") का प्रयोग उन मृतकों के लिए होता था, जो चिता पर जला दिये जाते थे। वैदिक काल में यह मृतकों का संस्कार करने की दो विधियों में से एक विधि है। दूसरी विधि है – "भूमि में गाडना" (उयर्युक्त उद्धृत ऋग्वेद के सन्दर्भ, १०/१५/१४ , मृतकों के अन्तिम संस्कार के रूप में "निखात" शब्द का उल्लेख है, जिसका शाब्दिक तात्पर्य "भूमि में गाडें जाने वाले शव" ही है)। अथर्ववेद (उयर्युक्त उद्धृत सन्दर्भ) इन दोनों के अतिरिक्त अन्तिम-संस्कार की दो और विधियों का उल्लेख करता है , जैसे "परित्याग" (इस का उल्लेख "परोप्ताः" शब्द से किया गया है) और मृतकों को खुले मैदान में छोड देना (इस का उल्लेख "उद्धिताः" शब्द से किया गया है) । वैदिक इण्डेक्स[79] में इस विषय पर चर्चा करते हुए कहा गया है कि "(परोप्ताः एवं उद्धिताः) इन व्याहृतियों का वास्तविक आशय सन्दिग्ध है । त्स्मिर (अल्टिण्डिशे लेबेन ४०२) के मतानुसार प्रथम व्याहृति (परोप्ताः) का आशय ईरानियों द्वारा मृतकों को जानवरों के खाने के लिए परित्याग कर देने की पद्धति के समकक्ष है ; दूसरी का आशय निःसहाय (ऋग्वेद, ८/५१/२) को निराश्रित मरने के लिए छोड देने से है। व्हिटने (अथर्ववेद का अनुवाद, ८४१) के अनुसार दूसरी व्याहृति का तात्पर्य मृतक शव को किसी प्रकार के ऊँचे चबूतरे पर खुला छोड देने से है।"

---

[78] ऋग्वेद, १०/१५/१४ ; अथर्ववेद, १८/२/३४ ; तैत्तिरीयब्राह्मण, ३/१/१/७

[79] वैदिक इण्डेक्स, पृ. १०

ऋग्वेद का एक सम्पूर्ण सूक्त[80] शव को गाडने से सम्बन्धित संकारों का वर्णन करता है। प्रस्तुत सूक्त काव्यात्मक दृष्टि से भी नितान्त द्रष्टव्य है। इस सूक्त (मृत्यु-सूक्त) के रूप में जीवन के उस पार के अन्ध गुहा-पथ पर जो कविता रची गई है वह एकाकी पथिक को यह स्मरण कराये विना नहीं रहती कि, "घबडायो मत, यहाँ भी कहीं-न-कहीं ह्रदय है"। जिस पृथिवी के अन्तस्तल में उसे रखा जा रहा है वह क्या मिट्टी ही मिट्टी है ? नहीं तो। वह तो ऊन-सी कोमल युवती माँ है। कवि उस माँ की गोद में जाने के लिए मृतक से कहता है –

"उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवां।
ऊर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात् ॥" (ऋ., १०/१८/१०)

मृत की रक्षा करने के लिए कवि पृथिवी माता को सम्बोधित कर कहता है –

"हे धरती माता ! तूँ इस मृत शरीर से, जो अब तेरी गोद में आ गया है, ऊपर उठे रहना और इसे नीचे की ओर दबाकर दुःखी मत करना। तूँ इसे सुख से अपने पास लगाने वाली और लाड लडाने वाली हो। जिस प्रकार माँ अपने पुत्र को अपने आँच से ढक लेती है, उसी प्रकार तूँ इसे सब ओर से अपने शरीर से ढक लें"

ऋग्वेदीय मृत्यु-सूक्त से ऐसा प्रतीत होता है कि मृत व्यक्ति को अपने सम्पूर्ण परिधान सहित गाडा जाता था। तथाऽपि वैदिक काल में शव का दाहन उतना ही प्रचलित था और क्रमशः इसके प्रसार में वृद्धि होती गई क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् (८/८/५) में मृतक शरीर को परलोक प्राप्त कराने के लिए "दही" (आमिक्षा) और वस्त्रालंकारों से सजाने को सदोष और त्रुटिपूर्ण बताया गया है ; तथा वाजसनेयि संहिता के अन्त्येष्टि से सम्बन्धित

---

[80] ऋग्वेद, १०/१८

मन्त्रों का आशय भी मात्र जलाना ही है। इस स्थान पर जो पद गाडने का उल्लेख करते हैं उनका आशय वास्तव में गाडने के स्थान पर राख या अस्थियाँ गाडना है।

२. अभिचार कर्मों के वाचक शब्द : अपामार्ग : प्रस्तुत शब्द वैदिक वाङ्मय [81] में अभिचारीय कुसृतियों तथा चिकित्सा के लिए प्रयुक्त होने वाले पौधे का नाम है। अथर्ववेद में (४/१७/२) यह "प्रत्यावृत्" शब्द से भी कहा गया है, जिसका आशय है उल्टी हुई पत्तियों वाला।

३. अभिचार कर्मों के वाचक शब्द : कूदी : प्रस्तुत शब्द अथर्ववेद (५/१९/१२) में एक लकडी की टहनी का द्योतक है। वैदिक इण्डेक्स [82] के अनुसार विद्वानों ने इसे "बदरी" की टहनी स्वीकार किया है। इस टहनी को मृतकों के सभी चिह्न समाप्त कर देने के लिए उनके शव में बाँध दिया जाता था ; सम्भवतः इस योजना में भाव यहीं था कि मृतकों की आत्मा के लिए अपने पुराने घर में पुनः लौट आना कठिन हो जाए।

✓ **जीव-जन्तु तथा दुर्वा-वृक्षादि**

- **पालतू जीव-जन्तु : कृक-वाकु**
- **विषैले जन्तु : कृमि**
- **स्वतः उद्भूत दुर्वा : करीर, काश**
- **घर में स्वच्छन्दतया विचरने वाले जीव-जन्तु : कुण्डृणाची**

१. पालतू जीव-जन्तु : कृक-वाकु : "मुर्गा" का वाचक प्रस्तुत शब्द का अथर्ववेद[83] में भेड, बकरी और अन्य पालतू पशुओं के साथ उल्लेख है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह भी पाला जाता था। शुक्लयजुर्वेद

---

[81] अथर्ववेद, ४/१७/६ ; ४/१८/७ ; ४/१९/४ ; ७/६५/२ ; शुक्लयजुर्वेद, ३५/११ ; तैत्तिरीयब्राह्मणम्, १/७/१/८ ; शतपथब्राह्मणम्, १३/८/४/४

[82] वैदिक इण्डेक्स, पृ. १९६

[83] अथर्ववेद, ५/३१/२

वाजसनेयि संहिता[84] में अश्वमेध के बलि प्राणियों की तालिका में यह "सवितृ" को अर्पित प्रतीत होता है । वेदभाष्यकार आचार्य यास्क "कृक-वाकु" शब्द की व्याख्या[85] में कहते है कि "कृकवाकु" इसी नाम से इसलिए पुकारा जाता है क्योंकि यह दिन के समय की घोषणा (कालानुवाद) करता है । वाजसनेयि संहिता के भाष्यकार महीधर इस नाम की व्याख्या "ताम्र-चुड" (लाल छत्रवाला) इस पर्यायवाची से करते है । "कृक-वाकु" शब्द का पूर्वपद "कृक" निश्चित रूप से ध्वन्यानुकरणात्मिकता का ही बोधक है ।

२. विषैले जन्तु : कृमि : अथर्ववेद, वाजसनेयि संहिता तथा कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं[86] में कृमियों का बहुधा उल्लेख हैं । इन्हें विषमय माना गया हैं और पर्वतों, वनों, जल, पौधों और मानव-शरीर में इनके पाये जाने का उल्लेख मिलता है । प्राचीन सभ्यता के अध्येता विद्वानों ने प्राचीन काल में इनके विषय में यह विचार व्यापकतया प्रचलित होने का भाव व्यक्त किया है कि इन्हें मनुष्यों तथा पशुओं के रोगों का प्रधान कारण माना जाता था । अथर्ववेद संहिता में इनके विरुद्ध अभिचारों के सूक्त भी संग्रहित है । इन सूक्तियों में मवेशियों के कृमियों को नष्ट करने के लिए एवं बालकों को कृमियों से मुक्त करने के लिए अभिचार कृत्यों का विवेचन है ।

३. स्वतः उद्भूत दुर्वा : करीर : "करीर" पत्तीविहीन झाडी का नाम है, इस शब्द का प्रयोग तैत्तिरीय संहिता[87] में मिलता है ।

४. स्वतः उद्भूत दुर्वा : काश : वैदिक इण्डेक्स[88] के अनुसार, रॉथ (सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश) प्रस्तुत शब्द को ऋग्वेद (१०/१००/१०) में चटाइयाँ इत्यादि बनाने के लिए प्रयुक्त घास की एक जाति का वाचक मानते है ।

---

[84] शुक्लयजुर्वेद, २४/३५

[85] निरुक्तम्, १२/३

[86] अथर्ववेद, २/३१/३२ ; ५/२३ ; शुक्लयजुर्वेद, २४/३० ; तैत्तिरीय संहिता, ५/५/११/१ ; मैत्रायणी संहिता, ३/१४/११ इत्यादि ।

[87] तैत्तिरीय संहिता, २/४/९/२

[88] वैदिक इण्डेक्स, पृ. १६९

५. घर में स्वच्छन्दतया विचरने वाले जीव-जन्तु : कुण्डृणाची : तैत्तिरीय संहिता[89] के भाष्य में भाष्यकार सायण प्रस्तुत शब्द को घर में पाई जाने वाली छिपकली "गृह-गोधिका" का वाचक मानते है । वैदिक इण्डेक्स[90] प्रस्तुत शब्द को अज्ञात पशु का वाचक भी दर्शाता है । "कुण्डृणाची" शब्द का यजुर्वेद संहिताओं[91] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में भी संग्रहण है ।

✓ **लौकिक व्याहृतियाँ**

- **मनुष्य के लिए उपहासात्मक अनुकृतियाँ : किं-पुरुष**
- **मनुष्येतर जीव-जन्तुओं के लिए लौकिक अनुकृतियाँ : कुर्कुर**

१. मनुष्य के लिए उपहासात्मक अनुकृतियाँ : किं-पुरुष : "किंपुरुष", जिसका शाब्दिक अर्थ "किस प्रकार का व्यक्ति" है, मनुष्य की उपहासात्मक अनुकृति है । वैदिक इण्डेक्स[92] इस शब्द के विषय में रॉथ का मत इस प्रकार उद्धृत करता है "रॉथ (सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश) का विचार है कि यह एक उपहासप्रद व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ (शब्द) है । मैक्स मूलर (ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ. ४२०) इसका अनुवाद "जङ्गली" करते है" ।

२. मनुष्येतर जीव-जन्तुओं के लिए लौकिक अनुकृतियाँ : कुर्कुर : प्रस्तुत शब्द अथर्ववेद[93] में कुत्ते के लिए ध्वन्यानुकरणात्मक नाम है ।

---

89 तैत्तिरीयसंहिता, ५/५/१६/१

90 वैदिक इण्डेक्स, पृ. १७८

91 शुक्लयजुर्वेद, २४/३७ ; तैत्तिरीयसंहिता, ५/५/१६/१ ; मैत्रायणीसंहिता, ३/१४/१८

92 वैदिक इण्डेक्स, पृ. १७४

93 अथर्ववेद, ७/९५/२

पुस्तक-सूची

प्राथमिक स्रोत

❖ संहिता

- ऋग्वेद: (स्कन्दस्वाम्युद्गीथीयभाष्याभ्यां वेङ्कटमाधवीयव्याख्याययाः सायणाभाष्यनुसारिणिमुद्गलीया-वृत्त्या समवेतः) (2022 सं.)(सम्पा. मण्डल) विश्वबन्धुः एवमन्यः, होशियारपुरम् : विश्वेश्वरानन्दवैदिक-शोधसंस्थानम् ।
- ऋग्वेदसंहिता (सायणाचार्यविरचित 'माधवीयवेदार्थप्रकाश'सहिता)(द्वि. सं. 1985 (सम्पा.) मोक्षमूलर-भट्टः, वाराणसी : चौखम्बा कृष्णदास अकादमी।
- वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुल्कयजुर्वेदसंहिता(श्रीमदुवटाचार्यविरचित मन्त्रभाष्येण श्रीमहीधराचार्य कृत वेददीप भाष्येण च समन्विता)(1913) (सम्पा.) वासुदेव शर्मा : निर्णयसागरप्रेस |
- शुक्लयजुर्वेदकाण्वसंहिता सायणभाष्योपेता (1978) सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः।
- कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहिता (सायणभाष्योपेता) (1986) (सम्पा) मण्डनमिश्रः, दिल्ली: श्रीलालबहा-दुरराष्ट्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्।

- अथर्वेद: (शौनकीयः) (सायणाचार्यकृतभाष्यसंयोजित:) (1961) (सम्पा. मण्डल) विश्वबन्धु: एवमन्य:, होशियारपुरम् : विश्वेश्वरानन्दवैदिकशोधसंस्थानम्।
  - ❖ (सानुवादसंस्करण)

- ➢ Rig veda (reprint 2004) (Trans.) Griffith, R.T.H., Alaigal Publication : Chennai.
- ➢ Rigveda-Sanhita, LIber primus, Sanskrite et Latine (1838) (Ed. And Trans.) Fridericus August Rosen, Wm. H. Allen & co.: London.
- ➢ Die Hymnen des Rigveda (1877) (Ed. And Trans.) Theodor Aufrecht, Bei Adolph Marcus: Bonn
- ➢ The Text of the White Yajurveda (1899, Third Ed. 1957) (Trans.) Griffith, R.T.H MLBD: Delhi.
- ➢ यजुर्वेद-भाष्य-संग्रह (1960) दयानन्द सरस्वती, (सम्पा) युधिष्ठिरमींमासक, बडौदा: आर्य कुमार महासभा।
- ➢ Sama Veda Samhita (reprint 2003) (Trans.) Griffith, R.T.H., Cosmo Publications.
- ➢ Hymns of the Atharvaveda (reprint 2002) (Trans.) Griffith, R.T.H., Munshiram Manoharlal : Delhi.

गौण स्रोत

❖ ENGLISH

- Abhyakar, K.V. (1961), *A Dictionary of Sanskrit Grammar*, Baroda : Oriental Institute.
- Allen, William Sidney (1935), *Phonetics in Ancient India*, London; Oxford University Press.
- Allen, William Sidney (1962), *Sindhi: The Theoretical, Phonetic and Historical Bases of Word junction in Sanskrit*. The Hauge : Mouton.
- Anand, Mulk Raj and Zelliot, Eleanor (Eds.) (1992), *An anthology of Dalit literature,* New Delhi : Gyan Publication House.
- Ananthanarayana, H.S. (1970), *Verb forms of Taittiriya Brahmana*, Poona : Decan College Postgraduate and Research Institute.
- Aurobindo, Shri (reprint 1999), *The Secret of the Veda,* Pondicherry : Sri Aurobindo Ashram.
- Awad, Milind Eknath (2009), *Towards an aesthetics of dalits,* New Delhi : Jawaharlal Nehru University.
- Bandhu, Vishwa (1975), *Vedic Textuo-Linguistic Studies*, Hoshiarpur : V.V.R.I.
- Barooah, Anundaram (2001), *A Comprehensive Grammar of Sanskrit Language : Analytical Historical and Lexiocographical*, Delhi : Bhartiya Kala Prakashan

- Bloomfield, Maurice & Edgerton, Franklin (1979), *Vedic Variants* (Phonetics) Delhi : Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd.
- Bose, A.C. (1960) *The call of the Vedas,* Bombay : Bhartiya vidya Bhavan.
- Burrow , T. (1965) , *The Sanskrit Language* , London , Faber and Faber
- Cardona , George (1974) , *The Indo-Aryan Languages* . Encyclopedia Britanica (5th ed. Vol. 90) PP. 430-450.
- Dharmapal, Gouri (2010), *Linguistic Atom and the Origin of Language,* Kolkata : Ritam.
- Dillon , Myles (1975) , *Celts and Aryans ,* Shimla: Indian Institute of Advanced Study.
- Frawley, David (1993) , *Gods, Sages and Kings : Vedic secrets of ancient civilization,* Delhi : MLBD.
- Ghosh ,Batakrisna (1937) , *Linguistic Introduction to Sanskrit* , Calcutta: Indian Research Institute.
- Ghosal, Pranati (2006), *Lifestyle of the Vedic people,* New Delhi : D.K. Printworld.
- Ghurye , G.S. (1979) , *Vedic India,* India : Popular Prakashan.
- Gonda, J. (1952) *Four Studies in the Language of the Veda*, Netherlands : Mouton.
- Gonda, J. (1979) *The medium in the Rgveda,* Leiden : Brill.
- Gonda, J. (1984) *The vision of the Vedic Poets,* New Delhi : Munshiram Manoharlal Publishers.
- Joel P. Brereston and Stephenie W. Jamison (eds) (1991) (Vol.IVth) *Sense and Syntax in Vedic*, Panels of the VIIth WSC Leiden : E.J. Brill.

- Kochhar, Rajesh (2000), *The Vedic people : their history and geography,* New Delhi : Orient Longman.
- Kunte, M.M. (1974), *The vicissitudes of Aryan civilization in India : the history of the Vedic and Buddhistic polities, their origin, prosperity, and decline,* Delhi : Heritage Publishers.
- Macdonell, A.A. (1917, Rep. 1995) *A Vedic Reader for Students*, Delhi: Low Price Publications.
- Macdonell, A.A, *Vedic Grammar* (Trans. Into Hindi by Satyavrat Shastri) (1971) Delhi : MLBD
- Mackichan, D. (1919), *Inroduction to the Nirukta* (Trans, in English of Roth's The Nirukta's Introduction, Bombay : Bombay University.
- Majumdar, R.C. (reprint 1996), *The Vedic age,* Mumbai : Bhartiya Vidya Bhavan.
- Massey, James (1994), *Towards Dalit hermeneutics : rereading the text, the history and the literature,* Delhi : ISPCK.
- Misra, Vidhatanivas (1972*), A Critical Study of Sanskrit phonetics*, Varanasi : Chowkhambha Sanskrit series office.
- Mitra, Priti (1966), *Life and Society in the Vedic age,* Calcutta : Sanskrit Pustak Bhandar.
- Mullar, F. Max (1987, Rep 1996), *The Sacred Books of the East* (Vol. 32, 42, 43) Delhi : Low Price Publications.
- Mullar, F. Max (1912, Rep 1985), *Biographies of Words and the Home of the Home of the Aryas*. Patna : Eastern Book House.
- Mullar, F. Max (1969), *The Vedas,* Varanasi : Indological Book House.
- Murali Manohar, D. (2010), *Dalits and their religion(S),* New Delhi : Serials Publications.

- M.M. Dashpande (ed) (1991), *Panini and the Veda* (Vol. Vth) panels of the VIIth WSC, Leiden : E.J. Brill.
- Nath Narebdrachandra (1969), *Paninian Interpretation of Sanskrit Language*, Varanasi : Banaras Hindu University
- Oldenburg, H. (rep. 1962) *Ancient India : Its Language and Religions. Calcutta* : Punthi Pustak.
- Pande, G.C. (Ed.) (reprint 2004), *The dawn of Indian civilization : up to 600 B.C.,* Delhi : Centre for studies in civilizations.
- Prakash, Buddha (1966) *Rgveda and the Indus Valley civilization,* Hoshiarpur : Vishveshvaranand Institute.
- Ragozin, Zenaide A. (1984), *History of Vedic India,* Delhi : Mittal Publications.
- Ramgopal, (1983), *The History and Principal of Vedic Interpretation*, New Delhi : Concept Publishing Com.
- Renou, Louis (rep. 1965), *The Destiny of the Veda in India.* Delhi : MLBD.
- Singh, Bhagwan (1995), *The Vedic harappans,* New Delhi : Aditya Prakashan.
- Sunder Raj, M. (1983) , *Time*, Madras : International Society for the investigation of Ancient Civilization.
- Sunder Raj, M. (1983) , *Space*, Madras : International Society for the investigation of Ancient Civilization
- Sunder Raj, M. (1983), *Life*, Madras : International Society for the investigation of Ancient Civilization.
- Thapar, Romila (1992), *Interpreting early India,* New York : Oxford University Press.
- Thorat, Sukhadeo (2007), *Hindu social system and human rights of dalits,* New Delhi : Critical Quest.

- Tikkanen, Bertil (1987), *The Sanskrit Gerund: A Synchronic, Diachronic and Typological Analysis*, Finnish Oriental Society.
- Trautmann , Thomas R. (2011) , *India : Brief History of a civilization* , India: Oxford University Press.
- Venkatasubbiah, A. (1969), *Vedic Studies* (Vol. 2) Adyar: Adyar Library Series 98.
- Verma, Siddheshwar (1929), (Indian Ed. 1961 & Trans. into Hindi by Devindatta Sharma at 1973), *Critical Studies in the Phonetics Observation of Indian : Grammarians*. Chandigarh : Hariyana Granth Akademi.
- Whitney, William Dwight (Reprint 1963), *The Roots, Verb Forms and Primary Derivatives of the Sanskrit Language*, Delhi : Motilal Banarsidas
- Wilson, Horace Harman (Indian ed. 1979), Grammars and Dictionaries of Sanskrit Language, Delhi: Nag Publishers.

❖ हिन्दी

- कृष्णलाल (1987), *संस्कृत शोध : वैदिक अध्ययन* , दिल्ली: विभुवैभवम्, सरस्वती विहार।
- त्रिपाठी, राधावल्लभ (2010) *संस्कृत कविता में लोकजीवन,* दिल्ली : यश पब्लिकेशन्स ।
- भगवद्दत्त (1976) *वैदिक वाङ्मय का इतिहास* , दिल्ली : प्रणव प्रकाशन।
- मिश्र, हरिमोहन (1978) *वैदिक कविता,* पटना : अनुपम प्रकाशन ।
- मींमासक, युधिष्ठिर (1991) *वैदिक सिद्धान्तमींमासा* (भाग-1 तथा 2 (1991) हरयाणा : रामलाल कपूरट्रस्ट, सोनीपत।

- मीमांसक, युधिष्ठिर (चतु. सं. 2009) *वैदिक-स्वर-मीमांसा*, हरियाणा : रामलालकपूरट्रस्ट।
- मीमांसक, युधिष्ठिर (द्वि. सं. 2009) *वैदिक-छन्दो -मीमांसा*, हरियाणा : रामलालकपूरट्रस्ट।
- वाल्मीकि, ओमप्रकाश (2001) दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, नई दिल्ली : राधाकृष्ण ।
- मैक्समूलर (अनु. उदयनारायण तिवारी) (1970) *भाषा विज्ञान* , दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास।
- कीथ, आर्थर बेरीडेल, वैदिक धर्म एवं दर्शन, सूर्यकान्त (अनु.) (1963), दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास ।
- शास्त्री, शिवनारायण (1972) *निरुक्त के पाँच अध्याय,* वाराणसी : इंडोलाजिकल बुक हाउस।

Research Papers/Articles

- Arnold, Edward Vernon (1897) "Sketch of Historical Grammar of the Rgveda and Atharvaveda" *JAOS* (Vol. 18), PP. 203-350
- Avery John (1880), "Contributions to the History of Verb Inflection in Sanskrit" *JAOS* (10), 219-324
- Bronkhorst, Johannes (1989) "Veda" *ABORI* (70) PP. 125-135
- Dahiya, Yajanveer (1980), " A Study of the Verbal Roots in Vedic Literature*", Summary of Papers (30th AIOC),* Santiniketan, 27-29
- Hopkins, Edward Washburn (1983) "Vedic Reduplication of Nouns and Adjective" *The American Journal of Philosophy* (Vol.14, No. 1) PP. 1-40+138
- K. Meenakshi(1995, Sec. Ed. 2002) " Linguistics and the Study of early Indian History" *Recent Perspectives of*

Early Indian History (Ed.) Romila Thapar, New Delhi : Book Review Trust.

- Raja, K. Kununni (1971), "Etymology and Interpretation in Ancient India" *Dr. V. Raghavan Shastabdyapurti Felicitation Committee*, Kappuswami Shastri Research Institute.
- Verma, Siddheshwar (1953), "A Plan for the evaluation of Panini on the Vedic Language", *Summary of Papers*. (17th AIOC) Ahamedabad, 104-105.
- Whitney, W.D. (1854) "On the History of the Vedic Texts" *Journal of American Oriented Society* (Vol. 4) PP. 245+247-261.

कोषग्रन्थ

- अमरकोष: , (2026 सम्वत्) 'रामश्रमी' व्याख्यया विभूषित: (सम्पा.) शास्त्री हरगोविन्द , चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस , वाराणसी
- *उणादिकोष:*, नारायणशास्त्री काङ्कर: (प्रका.) श्रीमती शान्ति देवी, सुमेरुकर्णमार्ग, धान्यमण्डी, जयपुरम्
- *चतुर्वेद-वैयाकरण-पदसूची* (1963) (*सम्पा.*) *विश्व बन्धु*, विश्वेश्वरानन्द- वैदिक-शोध-संस्थानम्, होशियारपुरम्
- दयानन्दनिरुक्तिव्युत्पत्तिकोश (2003) रूपकिशोर शास्त्री , गुरुकुल वृन्दावनस्नात्कशोधसंस्थान्तर्गतम् 'आदित्यपीठ'म्, दिल्ली
- दयानन्द-सन्दर्भ-कोष (2011) महर्षि दयानन्द के समग्र साहित्य पर आधारित, ज्ञानप्रकाश शास्त्री, दिल्ली, परिमल पब्लिकेशन्स
- ब्राह्मणोद्धारकोषः (वि. सं 2023) भीमदेव-हंसराज-विश्वबन्धु : विश्वेश्वरानन्दसंस्थानम्, होशियारपुरम्

- मींमासकोषः, (1912), (सम्पा.) केवलानन्द सरस्वती , श्री सतगुरु पब्लिकेशन्स, दिल्ली
- यजुर्वेद-पदार्थ-कोषः, शास्त्री, ज्ञानप्रकाश (2009) दिल्ली: परिमल पब्लिकेशन्स
- वाचस्पत्यम् (पाँच भाग), (2026 संवत्) तारानाथतर्कवाचस्पततिभट्टाचार्यः, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस , वाराणसी
- वैदिककोषः, (1992) हंसराज-भगवद्दत्त , विश्व भारती रिसर्च इन्सीट्यूट, ज्ञानपुर वाराणसी
- वैदिकपदानुक्रमकोषः (2012 सं) (प्र. सम्पा.) विश्वबन्धुः, होशियारपुरम् , विश्वेशरानन्दवैदिकशोधसंस्थानम्
- वैदिकवाङ्गमयनिर्वचनकोषः (2001), रुपकिशोरशास्त्री , प्रतीभा प्रकाशन , दिल्ली
- वैदिक देवता ऋष्यनुसारी मन्त्रानुकोषः,(2003), आर्य रविप्रकाश एवं रामनारायण, इण्डियन फाउन्डेशन फार वैदिक स्टडीज , रोहतक , हरियाणा

डॉ. विश्व बन्धु साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, मध्य प्रदेश के भाषा, साहित्य एवं कला सङ्काय में संस्कृत के सहायक प्राध्यापक हैं।

भारत नीति प्रतिष्ठान
India Policy Foundation
D-51, First Floor, Hauz Khas, New Delhi-110016
Tel : 011-26524018 • Fax : 011-46089365
E-mail : info@ipf.org.in, indiapolicy@gmail.com
Website : www.ipf.org.in

ISBN:978-93-84835-35-4